TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

TIGHT BINGING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180840

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H 81.6 B11H Acc. No. GH-1331

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.6 | B11H Accession No. G.H. 1331

Author अज्ञात |

Title हेल्थ | 1946

This book should be returned on or before the date last marked below.

हलाहल

सन् १९३६—'४५ में

लिखित

सूखें सब रस, बने रहेंगे
किंतु हलाहल औ' हाला।

—मधुशाला

बच्चन की अन्य प्रकाशित रचनाएँ

१—बंगाल का काल

२—सतरंगिनी

३—आकुल अंतर

४—एकांत संगीत

५—निशा निमंत्रण

६—मधुकलश

७—मधुबाला

८—मधुशाला

९—खैयाम की मधुशाला

१०—प्रारंभिक रचनाएँ—पहला भाग
११—प्रारंभिक रचनाएँ—दूसरा भाग
} कविताएँ

१२—प्रारंभिक रचनाएँ—तीसरा भाग—कहानियाँ

इनके विषय में विशेष जानकारी के लिए पुस्तक के अंत में देखिए। नवीनतम रचनाओं के लिए लीडर प्रेस, प्रयाग से पत्र-व्यवहार कीजिए।

हलाहल

बच्चन

एक में जीवन-सुधा रस
दूसरे कर में हलाहल।

—मधुकलश

ग्रंथ-संख्या—११४
प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भंडार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

पहला संस्करण—जुलाई, १९४६
मूल्य २॥)

मुद्रक—
महादेव एन० जोशी
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

विज्ञापन

आज बच्चन के काव्य प्रेमियों के सामने हम उनकी एक नवीन रचना उपस्थित कर रहे हैं।

जैसा कि रचना-तिथि सूचक पृष्ठ से आपको विदित हो गया होगा 'हल'हल' कवि की एक ऐसी कृति है जिसपर उन्होंने अपनी रचनाओं में सबसे अधिक समय लगाया है अथवा जो सबसे अधिक समय तक उनका मानस मंथन करती रही है। फ़रवरी, १९३६ की 'सरस्वती' में 'हलाहल' के पंद्रह पद (जिनकी संख्या प्रस्तुत संकलन में १, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६८, ६९, ७०, ७१, ७५, ९३, ९६, ९७ हैं) निम्न लिखित टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुए थे :—

"'मधुशाला' के समान मैं 'हलाहल' पर भी चतुष्पदियों में एक 'तुकबंदी' लिख रहा हूँ। पूर्ण रचना में संभवतः सौ-सवासौ से ऊपर पद होंगे। अब तक रचे हुए पदों में से कुछ चुनकर 'सरस्वती' के लिए भेज रहा हूँ। यहाँ लिए गए सभी पद अक्रम हैं। पूर्ण रचना पुस्तक रूप में यथा समय प्रकाशित की जायगी।'

इस रचना की पूर्ति जाकर १९४५ में हुई और इस प्रकार स्वाभाविक ही इसमें उनके दश वर्ष के लम्बे जीवन की भावनाएँ, कल्पनाएँ, शंकाएँ एवं आशाएँ प्रतिबिंबित हुई हैं।

'मधुशाला' के समान 'हलाहल' भी चौपदों का संग्रह है। 'हलाहल' को केवल मुक्तकों का संग्रह समझना भूल होगी। और यह बात 'मधुशाला' के सम्बन्ध में भी उतनी ही सच है जितनी इस रचना के विषय में। प्रत्येक पद अपने आप में पूर्ण होते हुए भी क्रमानुसार संपूर्ण रचना के उत्तरोत्तर विकास में सहयोग देता है। पढ़कर देखें।

—प्रकाशक

कृति-परिचय

कवि का सच्चा परिचय उसकी कृति है और कृति का सच्चा परिचय वह अपने आप है—यही मैंने सदा माना है। जहाँ कृति स्वयं अपना परिचय देने में असमर्थ रहती है वहाँ या तो उसमें कोई विलक्षणता होती है या कोई कमज़ोरी। हलाहल का कुछ परिचय देने की मुझे आवश्यकता प्रतीत हो रही है, इसके किस गुण-दोष के कारण, इसपर मेरा चुप रहना ही उचित है।

प्रथम पृष्ठ पर जो तिथि-निर्देश किया गया है उससे प्रायः यह समझा जायगा कि मैंने इस रचना के ऊपर दस बरस तक काम किया है। यह बात एक अर्थ में सच होते हुए भी भ्रामक है। और मुख्यतया इसी बात को स्पष्ट करने के लिए मैं इन पंक्तियों को लिख रहा हूँ।

जिन दिनों 'हाला' के प्रतीक से मेरा मस्तिष्क और हृदय अभिभूत था उन्हीं दिनों 'हलाहल' के प्रतीक ने भी मेरा ध्यान अपनी ओर खींचा था। इसकी रचना में मैं सन् १९३५ के अंतिम अथवा सन् १९३६ के प्रारंभिक महीनों में लगा रहा। लगभग पचास पद लिखे गए थे, जिनमें से पंद्रह चुनकर मैंने फरवरी, सन् १९३६ की 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेज दिया था। कल का 'हाला' का लेखक आज 'हलाहल' पर लिख रहा है, इस बात ने स्वाभाविक ही लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। बाद के किसी महीने की 'सरस्वती' में इन पदों की आलोचना करते हुए किसी महोदय ने इनमें अभिव्यक्त विचारों पर आपत्ति भी उठाई थी और इससे मुझे एक पद लिखने की प्रेरणा मिली थी, 'चलाई तुमने पत्थर ईंट देखकर मदिरा मेरे हाथ' आदि।

१९३६ मेरे जीवन में एक भीषण भूकंप का समय था। 'हलाहल' जिन प्रवृत्तियों का प्रतीक बनकर मेरे मन में उदित हुआ था उनको दुलराकर नहीं, बल्कि उनको चुनौती देकर ही मैं अपने अंदर बल संचित कर सकता था, अपने को सुस्थिर रख सकता था। यह चुनौती मैंने 'मधुकलश' में दी। जीवन की एक मार्मिक चोट ने क्षय रोग के रूप में मुझपर आक्रमण किया लेकिन उसे पराजित होना पड़ा, श्यामा को बचाने के लिए मैंने यमराज के अंतिम द्वार तक युद्ध किया। उनके अवसान पर मैंने अपने आपको मौत की अंधकारमय घाटियों में पाया। 'निशा निमंत्रण' और 'एकांत संगीत' के गीतों को गाता हुआ जब इस अंधकार से निकला तो जीवन का प्रकाश आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करने लगा। कभी मन इस नई ज्योति से पुनः परिचित और अभ्यस्त होने का प्रयत्न करता—'आकुल अंतर' और 'विकल विश्व' के गीतों में; और कभी मन कहता, फिर लौट चलो बीते युग के अंधकार में—जहाँ 'हलाहल', 'मरघट' और 'अतीत का गीत' अधूरा पड़ा है। अंतिम दो रचनाएँ भी मैंने १९३६ में ही प्रारंभ की थीं और अपूर्ण ही छोड़ देने को विवश हुआ था। अक्टूबर, १९४० में 'खैयाम की मधुशाला' का दूसरा संस्करण प्रकाशित किया गया था और उसी में इन तीनों रचनाओं के शीघ्र प्रकाशित होने की सूचना दे दी गई थी। साथ ही 'आकुल अंतर' और 'विकल विश्व' का विज्ञापन भी कर दिया गया था।

नवंबर, १९४० में पंडित सुमित्रानंदन पंत ने मुझे अपने साथ रहने को बुला लिया। उन दिनों मैं अपने अनेक दुःखद स्मृतियों से भरे हुए घर को छोड़कर हालैंड हाल होस्टल में रहता था और प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग में 'रिसर्च स्कॉलर' का काम करता

था। जुलाई में ही पंत जी और पंडित नरेंद्र शर्मा ने प्रयाग में साथ रहने का निश्चय किया था, परंतु किसी कारण वश नरेंद्र जी को स्थायी रूप से बनारस चला जाना पड़ा और पंत जी अकेले रह गए। मैंने उनके निमंत्रण का स्वागत किया। हम दोनों ८-ए, बेली रोड पर 'बसुधा' में रहने लगे। प्रसंगवश यह बतला दूँ कि इस घर का यह नाम पंत जी ने ही दिया था। कहने लगे, जब मैं कालाकाँकर में था तब मेरे निवासस्थान का नाम था 'नक्षत्र'। अब मैं 'नक्षत्र' से 'बसुधा' पर आ गया हूँ; फिर यह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की ओर संकेत करता है और इस प्रकार मेरे साम्यवादी विचारों से जोड़ खाता है और एक बात और भी है इस नाम में—'ब' से बच्चन, 'सु' से सुमित्रानंदन और 'धा' से धारण करने वाली—ब. सु. धा.! थे तो हम दोनों ही बसुधा पर लेकिन हमारी मनस्थितियों में कितना अंतर था। पंत जी उच्च आकाश की आभा का परित्याग कर पृथ्वी पर उतर पड़े थे। और मैं पाताल-निम्न घाटियों के अंधकार से संघर्ष कर अपना सिर क्षितिज के ऊपर उठा रहा था! लेकिन इस नए संसार से सामंजस्य स्थापित करना पंत जी के लिए भी कठिन हो रहा था।

'बसुधा' में मैं 'निशानिमंत्रण' और 'एकांत संगीत' के पश्चात लिख रहा था 'हलाहल' और 'आकुल अंतर' और पंत जी 'युगवाणी' के 'गीत गद्य' और ग्राम्या के, कहना चाहूँगा, गीत पद्य के पश्चात लिख रहे थे, एक बार फिर, गीत काव्य जिनमें उनका हृदय सहसा मस्तिष्क के समस्त भार को, जिससे उन्होंने कुछ समय से उसे अकलात्मक रूप से आक्रांत कर रक्खा था, एक साथ फेंककर स्वच्छंदता से गुनगुनाने लगा था—'बज पायल छम-छम-छम', 'बाँध दिए क्यों प्राण प्राणों से', 'शरद चाँदनी' आदि गीत उन्होंने इसी समय लिखे। इन गीतों की

संख्या संभवतः आठ-दस के ऊपर नहीं गई। मेरे 'हलाहल' के पदों की संख्या लगभग सौ के पहुँची।

जब से मैं आया पंत जी ने घर के प्रबंध का सारा भार मेरे ऊपर छोड़ दिया। उन्होंने कहा, देखो भाई, यह आटे, दाल, चावल का हिसाब रखना मुझे बड़ा बखेड़ा लगता है, अगर यह तुम कर लो तो बड़ा अच्छा हो। और धीरे-धीरे वह सारा काम मेरे सिर पर आ गया जिसके लिए किसी गृहिणी की ज़िम्मेदारी समझी जाती है। पंत जी सब झंझटों से निश्चित होकर बहुत प्रसन्न थे। एक दिन किसी मित्र ने कहा कि 'आप लोगों का यह दुकेला अकेलापन (Double singleness) हमें अच्छा नहीं लगता।' इसपर पंत जी बोले, 'अब मैं अकेला कहाँ रहा, अब तो मैंने बच्चन को 'रख' लिया है।'

यह तो देवता को बाद को पता लगा कि मुझे 'रखना' उन्हें कितना महँगा पड़ा। गर्मी की छुट्टियाँ आईं। मुझे अपने दो वर्ष के रिसर्च के संबंध में एक लेख युनिवर्सिटी को देना था, इस कारण मैंने प्रयाग में ही रहने का निश्चय किया। पंत जी अपना बकस और बिस्तरबंद लेकर अल्मोड़ा चले गए। मैंने ही बाद को उनकी पांडु लिपियाँ, पत्र आदि सँभाले, उनके कपड़े संदूकों में रक्खे। गर्मी भर मैं अपने काम में लगा रहा। युनिवर्सिटी खुलने पर अंग्रेज़ी विभाग में लेक्चरर के पद पर मेरी नियुक्ति हो गई। काम नया था और मेरा सारा समय पाठ की तैयारी में लगने लगा। जो चीज़ें जहाँ पड़ी थीं वहीं पड़ी रहीं, न उन्हें किसी ने उठाया, न देखा।

बरसात के बाद जब जाड़ा आया तो मैंने गरम कपड़ों का संदूक़ खोला। न तो इनके साथ मैंने नेप्थलीन की गोलियाँ रक्खी थीं और

न इन्हें वर्षा के बाद मैंने धूप दिखाया था। परिणाम यह हुआ कि हमारे सारे कपड़े कीड़े खा गए। पंत जी का एक बढ़िया ऊनी सूट बरबाद हो गया था। उनका एक बकस ग़ायब था। एक बार यह सोचकर कि कहीं यह उनकी पांडु लिपियों वाला संदूक़ तो नहीं था, मेरा कलेजा धक से हो गया, पर चोर को काग़ज़ों से क्या काम। वह दूरदर्शी था और अच्छी तरह जाँच-पड़ताल कर कपड़ों वाला संदूक़ ही ले गया था। इसके बाद कपड़ों का जो काल देश में पड़ा उसमें तो संभव नहीं कि पंत जी अब तक भी इनकी कमी पूरी कर पाए होंगे। फूहड़ और अनाड़ी गृहिणी रखकर उन्होंने अपनी ज़िंदगी भर के लिए सबक़ सीखा; कान पकड़ा, बाबा अब जबन्तक तुम घर में बीबी नहीं लाते मैं तुम्हारे पास नहीं फटकने का।

अब मैंने और चीज़ों की देख-भाल शुरू की। मेरे काग़ज़-पत्र, पांडु लिपियाँ एक अलमारी में बंद थीं। अलमारी खोली तो मुँह से चीख़ निकल गई। अलमारी पक्की सीमेंट की थी, पर न जाने कहाँ से दीमकों ने निकलकर सारे काग़ज़ों को खा डाला था। 'हलाहल' और कहानियों पर लिखी एक आलोचनात्मक पुस्तक के एक अक्षर का भी पता न था। 'मरघट' और 'अतीत का गीत' के कुछ खाए, कुछ अधखाए भाग मिले। मेरा कहानी-संग्रह शायद दीमकों को अच्छा न लगा था; उन्होंने उसके आगे और पीछे के कुछ पृष्ठों का स्वाद लेकर उसे छोड़ दिया था। प्रारंभिक रचनाओं पर भी उन्होंने अधिक कृपा नहीं की थी। मिट्टी में मिले हुए कागज़ के विचित्र और विभिन्न रूपों के टुकड़ों में से समझ में नहीं आता था कि क्या संचित करूँ और क्या फेंक दूँ। 'हलाहल' जो इनमें से मेरी समझ में सर्वोत्तम कृति थी, विलुप्त हो गया था. और मैंने इसे फिर से लिख सकने की संपूर्ण आशा छोड

दी थी। रचना की एक पंक्ति थी 'हमारी तुकबंदी के हेतु बहुत होंगे लघु-लघु कृमि-कीट'। 'हलाहल' के लिए वह भविष्यवाणी सिद्ध हुई!

इसके बाद पिता की मृत्यु, दूसरे विवाह, पुत्र-जन्म, विश्वसंग्राम अगस्त आंदोलन, बंग दुर्भिक्ष आदि वैयक्तिक और सांसारिक घटनाओं ने मेरा ध्यान इतना आकर्षित किया कि अतीत की ओर देखने का मुझे अवकाश ही न मिला। केवल अगस्त आंदोलन के समय जब युनिवर्सिटी दो-ढाई महीने के लिए बंद कर दी गई थी तब मैंने प्रारंभिक कविताओं को प्रकाशित कराया।

दिसंबर, १९४४ में मेरी माता जी बीमार पड़ीं और मार्च '४५ में उनका स्वर्गवास हो गया। जनवरी में इधर तो मेरी माता जी मृत्यु-शैया पर पड़ी थीं और उधर मेरी पत्नी के पिता की भीषण बीमारी का तार आया। यह निश्चय हुआ कि हम में से एक उनके पास रहे। मैं अपनी पत्नी को सिंध छोड़कर वापस आया। अब घर में हम दो ही व्यक्ति रह गए—दिनानुदिन क्षीण होती मेरी माता जी और मैं।

अमित और तेजी के चले जाने से घर में एक अजीब सन्नाटा-सा छाया रहता। मेरा अधिक समय माता जी की खाट के पास बीतता। कभी उनकी सेवा में और कभी उनको कोई धार्मिक ग्रंथ सुनाने में। उनकी चारपाई के पास बैठे-बैठे मुझे सहसा अतीत की एक मृत्यु-शैया का ध्यान आता जिसके समीप इसके नौ वर्ष पूर्व मैं बैठ चुका था। उस मृत्यु-शैया के निकट कितनी बेचैनी थी, यौवन की कितनी अभिलाषाएँ उसके पायों और पाटियों पर अपना सिर धुन रही थीं; उस पर चमकती हुई दो आँखों में जीवन की कितनी प्यास थी, मौत के अनजाने और भेद-भरे देश में जाने से कितना भय था और अकिंचन मानव की असमर्थता और विवशता पर कितना विक्षोभ था!

इसके विपरीत माता जी की शैया के निकट कितनी शांति थी! जीवन की अभिलाषाएँ या तो पूरी हो चुकी थीं, या मिट चुकी थीं। आँखों में जीवन के प्रति उपेक्षा और उदासीनता का भाव था, जीवन में ऐसा कुछ नूतन क्या आने को है कि उसके लिए उत्सुक हुआ जाय। उनका यह विश्वास की आत्मा अमर है, मृत्यु से आत्मा का अत नहीं पुनर्जीवन होता है, संसार-शरीर और देह-गर्भ से निकलकर ही नया जन्म संभव है और ऐसे समय पीड़ा स्वाभाविक ही है, और जो कुछ हो रहा है वही ठीक और कल्याणकर है उनके चेहरे से टपका करता था। श्यामा की मृत्यु के पश्चात मुझे ऐसा लगता था कि जैसे उनकी आत्मा उनके शव के चारों ओर चक्कर काट रही है और सतत प्रयत्नशील है कि वह उनके चोले में फिर से समा जाय। माता जी की मृत्यु के कई दिन पूर्व से ही मुझे यह आभास हुआ था कि जैसे उनकी आत्मा शरीर छोड़कर अलग हो गई है और दूर बैठकर साँसों के साथ उसका खेल देख रही है—कब 'देह धरे का दंड' समाप्त हो और कब उसे मुक्ति मिले। उनकी मृत्यु मेरे लिए जीवन की एक नवीन व्याख्या थी। मेरी आँखों के सामने मृत्यु का एक नया अर्थ खुल रहा था और अक्सर मैं अंग्रेज़ी कवि शेली की निम्नलिखित पंक्तियाँ दुहराया करता था—

Waking or asleep
Thou of death must deem
Things more true and deep
Than we mortals dream,*

---

* सोते या जागते हम मर्त्यों की अपेक्षा तुझे मृत्यु के अधिक सच्चे और गंभीर अर्थ का ज्ञान होगा। यह पंक्तियाँ उनकी कविता 'स्काई लार्क' से हैं।

ऐसी परिस्थिति और मनस्थिति में 'हलाहल' की पंक्तियाँ किसी विस्मृति-प्रदेश की प्रतिध्वनियों के समान, वर्षों के अंधकार को चीरती हुई मेरे कानों में गूँजने लगीं। फिर भी मैं यह नहीं कहूँगा कि 'हलाहल' अपने संपूर्ण पूर्व रूप में मेरे मानस में उतर आया। समय की लंबी यात्रा ने उसमें न जाने कितना परिवर्तन कर दिया था। मेरी स्मरण शक्ति बुरी नहीं है, पर दस बरस बाद मस्तिष्क ने उन बहुत-सी बातों को अनावश्यक समझकर भुला दिया था जिन्हें उसने किसी समय उत्सुकता के साथ संचित किया था। केवल उन पंद्रह पदों को छोड़कर जो 'सरस्वती' में प्रकाशित हो चुके थे और जो यहाँ अविकल रख लिए गए हैं, 'हलाहल' के वर्तमान रूप में कितना उसका पूर्वांश सन्निहित है और कितना मेरे नवीन अनुभव से समाहित हुआ है, इसे बता सकना मेरे लिए असंभव है। 'हलाहल' का धरातल एक बार बन चुका था और मेरा नया अनुभव भी, जिसने 'हलाहल' के प्रतीक के अर्थ ही मेरे लिए बदल दिए, उसमें आमूल परिवर्तन नहीं कर सका। फिर भी यह मैं निश्चय पूर्वक कह सकता हूँ कि यदि मैंने 'हलाहल' को १९३६ अथवा १९४० में समाप्त कर दिया होता तो उसका यह रूप कदापि न होता जो आज आपके सामने है।

इन पंक्तियों को लिखकर मैंने एक नई बात की है। 'हलाहल' मेरी पहली मौलिक रचना है जिसके विषय में कुछ कहने को मेरी इच्छा हुई है। शायद 'खैयाम की मधुशाला' की भूमिका लिखकर मैंने अपनी आदत बिगाड़ ली है। कविता को समझने के लिए न किसी भूमिका की आवश्यकता है, न किसी व्याख्या की ज़रूरत। यह बात मेरे मन में इस तरह बैठ गई है कि इस लेख को आरंभ करने से पहले मैंने अपने से कई बार पूछा है कि क्या इसके बग़ैर मेरा काम नहीं चल

सकता। और, जिस तरह कभी-कभी कविता लिखने के लिए हृदय में आवेग उठता है और वह रोका नहीं जा सकता, उसी तरह इन पंक्तियों को लिखने के लिए भी अगर मेरे मन में प्रेरणा न हुई होती तो मैं अपना क़लम न उठाता। इन पंक्तियों के द्वारा यदि 'हलाहल' के विषय में आपका कोई कौतूहल शांत होगा तो मैं अपनी प्रेरणा को निरुद्देश न समझूँगा।

मेरी प्रार्थना पर मेरे मित्र श्रीयुत रघुवंश किशोर कपूर ने 'हलाहल' का 'आमंत्रण' लिखा है। पुस्तक मैंने, इसके प्रारंभ से पूर्णता तक की लंबी अवधि में मेरे मनोवेगों के सहृदय साखी, अपने दूसरे मित्र श्रीयुत ज्ञान प्रकाश जौहरी को समर्पित की है। हम तीनों मित्रों ने जीवन के अनेक अवसरों पर साथ बैठकर अपने हृदय की बात एक दूसरे से कही है और मन की गाँठें सुलझाई हैं। मेरी इच्छा थी कि मेरी किसी कृति के साथ हम तीनों का नाम एक साथ संबद्ध हो। ज्ञान प्रकाश जी ने समर्पण स्वीकार करके और रघुवंश किशोर जी ने 'आमंत्रण' लिखकर मेरी इस अभिलाषा की पूर्ति की है। दोनों ही मेरे इतने निकट हैं कि इनके प्रति आभार प्रकट करते हुए भी मुझे संकोच हो रहा है।

प्रयाग
२१. ४. ४६

बच्चन

ज्ञान प्रकाश जौहरी को

तरल नत नयनों का आरोप
बनाता कटुता को मधुमान,
गरल को करती अमृत रस
सरल मृदु अधरों की मुसकान !

आमंत्रण

जीवन की अभिशप्त यात्रा से क्लांत पथिक !

आओ, इस कल्पना-कुटीर में बैठकर कुछ देर विश्राम कर लो; कुछ देर अपने शिथिल चरणों को कवि की विचार-धारा में डाल उनकी थकान मिटालो; उनमें नई स्फूर्ति, नया उत्साह और जीवन के अभिप्रेत ध्येय की ओर अनवरत चलने का नया संकल्प संचित कर लो; फिर अपने मनोनीत पथ पर अग्रसर होना, चले जाना। अभी तो तुम थके हुए हो, निराशा की धूलि से तुम्हारा शरीर और मन दोनों ही मलिन है और देखता हूँ इस यात्रा में अतृप्त अभिलाषाओं का बोझ तुम्हारे सिर पर क्रमशः बढ़ता ही गया है। तुम्हारे यौवन-सुलभ नेत्रों में अब वह निर्विकार हीरक-दीप्ति कहाँ है ? तुम्हारा निर्मल हास जो कि सृष्टि के निर्माण-सुख का एक मात्र द्योतक था—वह निःशंक हास भी तो अब एक मुसकराहट बनकर रह गया है। तुम्हारे स्निग्ध और उन्नत ललाट पर, देखो तो, समय ने रेखागणित की कैसी गुत्थियाँ सुलझाने की कोशिश की है। तुम्हारे बालों में कालिमा को भी ज्योतिर्मय बनाने वाली वह अलौकिक चमक कहाँ है ? और तुम्हारे शरीर की भीनी-भीनी सुगंध जो जीवन में केवल एक बार, केवल यौवन-वसंत का प्रथम झोंका बनकर आती है—वह सुगंध भी चली गई। अब तो तुम धूलि-धूसरित, स्वेद-विगलित, व्याकुल और व्यथित यात्री हो। आओ, इस कल्पना-कुटीर में बैठकर कुछ देर विश्राम कर लो। मैं तुम्हारा आह्वान करता हूँ।

क्या कहा ? तृषातुर हो ? लो, मैं अभी तुम्हारी प्यास बुझाता

हूँ। क्या पिओगे ?—शीतल जल। पर उससे तो केवल क्षणिक तृप्ति होती है। बुझने की देर नहीं कि तृषा पुनः बलवती हो जाती है, और अंतस्तल की प्यास को तो यह रंक, बापुरा जल छू भी नहीं पाता। तो फिर क्या लोगे ? मदिरा—उषा से होड़ लेनेवाली, जीवन के शापों का एक मात्र परित्राण, विभ्रांत विश्व की आँखों में गुलाबी सपने बिखेरने वाली, फेनिल मदिरा ? यहीं तो, नादान, तुम ग़ल्ती करते हो। यह मदिरा तुम्हारे विक्षुब्ध हृदय की विडंबना है। यह मदिरा तुम्हें नियति के निर्धारित पथ पर चलाने के लिए प्रलोभन है। इसके बहुत से रूप हैं। तरुणी का प्रथम चुंबन, प्रणय का मादक राग, वर्ण और वाणी के जगत का आकर्षण, लालसा की उमंग, ईर्ष्या का उन्मेष। जीवन के सारे ही व्यापार जिनमें संसृति की शृंखला बनी है अथवा जिनसे मनुष्य का विवेक मुँह मोड़ता है मदिरा से ओतप्रोत हैं। उसे अपनी कमज़ोरियों पर नियति का व्यंग भी कह सकते हैं और अपने पुरुषत्व को चुनौती भी। मन का चाव, मान की रक्षा,—बेचारा मानव किसी न किसी प्रकार इस छल-पाश में बँध जाता है, और अपने बंधन को ही, अपने बंधन में ही अपनी मुक्ति मानने लगता है।

विश्रांत पथिक, तुम्हारी तृष्णा का शमन मदिरा नहीं कर सकती। मदिरा का स्वाद केवल होठ ही जानते हैं। शरीर के अंदर तो यह विद्युत-लहर बनकर दौड़ती है पर वहाँ भी इसका प्रभाव और प्रकाश होता अचिरस्थायी ही है। ज्यों-ज्यों अग्रसर होती है पीछे से मिटती जाती है। नहीं पथिक, मैं तुम्हें एक ऐसी हाला पिलाना चाहता हूँ जो सर्वदा उन्मत्त रखती है। इस अनोखी हाला को कहते हैं हालाहल !

लो, तुम तो नाम सुनते ही घबरा गए, पीले पड़ गए। लगता है जीवन के सत्य से बिल्कुल अनभिज्ञ हो। यथार्थता के पहले वार में ही

लड़खड़ा गए। अरे, जिसे तुम आजीवन मदिरा समझकर पीते रहे हो, वह है वस्तुतः हालाहल,—विश्व का ध्रुव और कठोर, अनिवार्य और सर्वव्यापी सत्य, और मदिरा ?—

'हलाहल के दो युग के बीच
एक मादरा की कल्पित रेख !'

एक छोटा-सा विराम-चिह्न, खुलकर साँस लेने का एक क्षणिक स्थान !

कल्पना की रेखा में खेलने वाले पथिक, मैं चाहता हूँ कि आज तुम्हारे हृदय पर एक पत्थर की लकीर खिंच जाय, आज तुम्हारे जीवन का विष बोल उठे, आज मैं तुम्हें उस कालकूट का एक घूँट पिला दूँ जिसे कंठस्थ कर शंकर 'प्रलय-लय-नाश, प्रलय-लय-नाश' के कार्य में इतने निर्विकल्प भाव से मग्न हैं। हलाहल पी लेने के बाद तुम्हें जीवन की वासना, अभिलाषा, करुणा और मोह पदच्युत नहीं कर सकेंगे, और न ही तुम्हारी तृष्णा तुम्हारे जीवन का अभिशाप बन तुम्हें सदा-सर्वदा भटकते रहने की प्रेरणा करेगी।

कहते हैं जीवन का एक मात्र सत्य अनुभव है। अनुभव को हलाहल भी कहते हैं। अनुभव बतलाता है कि सुरा और गरल में कोई विशेष अंतर नहीं। एक ही रस के दो नाम हैं, एक ही वस्तु के दो रूप हैं। मधु की धार भी कटु होती है और हलाहल के बाद मिलती है और हलाहल की ज्वाला ही प्रायः मधु से जले हुए प्राणी का उपचार होती है। मादक दोनों ही हैं और कोई भी नहीं। एक के बाद दूसरे की उत्पत्ति होती है और दोनों ही क्रमबद्ध हैं। तुम्हीं बताओ, जिस नैसर्गिक वांछनीय के पीछे तुम तन-मन-प्राण की बाज़ी लगाकर

दौड़े थे, क्या प्राप्त होने पर भी वह उतना ही वांछनीय रहा ? क्या तुम्हारे हाथ में कभी अमृत गरल और रस राख में परिणत नहीं हुआ ? क्या हाला हलक से उतरते ही हलाहल नहीं बन गई ? क्या क्षण भर के प्रसाद के बाद सारा जीवन विषाद में नहीं बीता ? तुमने सुख और दुख दोनों का अनुभव किया,

'पर हाय हुआ ऐसा कैसे,
सुख भूल गया दुख याद रहा !'

और ज़रा संसार की ओर तो आँख उठाकर देखो। सौंदर्य और प्रणय का यहाँ कैसा-कैसा अभिनय हो चुका है ! कैसी तीव्र और अनुपम सुरा यहाँ ढाली जा चुकी है ! शत-शत वसंत का संपुट उन्माद पागल प्रेम के एक-एक क्षण पर निछावर हो चुका है। संसार ने हेलेन और पैरिस का, रूपमती और बाज़ बहादुर का, शाहजहाँ और मुमताज़-महल का, रोमियो और जूलियट का प्रणय देखा है और उनके प्रणय के स्मारक-चिह्न, उनकी रंगस्थली के भग्नावशेष आज भी हमारे सामने हैं। हेलेन के नेत्र तो धूलि से पट गए, होमर को कृति अब भी बाक़ी है। मुमताज़ का लावण्य तो ताजमहल के फूलों को मिल गया, उसका मक़बरा आज भी अगणित असंस्कृत नेत्र हर दृष्टिकोण से जाँचा करते हैं। जीवन की सुरा, हाला की माधुरी हर जगह शीघ्र ही विलीन हो जाती है, जुही की सुगंधि की भाँति जल्द ही उड़ जाती है,—जीवन का कठोर सत्य, हलाहल का अविनाशी तत्त्व, इंसान के टूटे महल और मकबरे सब कहीं पड़े रह जाते हैं।

इसीलिए मैं चाहता हूँ कि तुम हलाहल पिओ, जीवन के सत्य से वंचित न रहो। जानते हो, सत्य तो कंकाल है, कठोर, नीरस, भाव-

हीन, सृष्टि की आधार शिला। असत्य में हैं इंद्रधनुष के रंग, संगीत का क्षितिज मापक राग, असंख्य अनुभूतियों का क्रीड़ास्थल मांसमज्जित शरीर और विश्व की पल-पल परिवर्तित छटा। असत्य की मादक मिठास, हाला का अनिर्वचनीय सुख सत्य का कड़ुआ घूँट पीकर ही जाना जा सकता है। जीवन की तीव्र लालसाओं का इसीलिए महत्त्व है कि हमारे चारों ओर मृत्यु का, हलाहल का समुद्र लहरा रहा है। यदि मानव को मरण का वरदान न मिला होता तो वह भी देवों की भाँति जड़ और कायर होता। हमने तो अपनी क्षणभंगुरता में ही अपने अमरत्व का दुर्ग खड़ा किया है। सीमित जीवन में सीमाहीन अभिलाषा, नरक में रहकर स्वर्ग की कामना, नाश की गोद में बैठकर निर्माण का अनवरत प्रयत्न—यही हमारी लघुता और यही हमारा गौरव है। इसीलिए कवि कहता है—

'मर्त्य की मिट्टी तू म्रियमाण,
साधना तेरी सब स्वर्गीय,
दैवतों में तू ईर्ष्या-पात्र,
मानवों में तू हो दयनीय।'

लो पथिक बढ़ाओ हाथ। देखो रजत पात्र में लहराते हुए इस नीले हलाहल में कितना आमंत्रण है, तुम्हारी थकान और व्यथाओं के प्रति कितनी संवेदना है! कितना सौंदर्य है इसमें! लगता है जैसे नगाधिपति के हिमाच्छादित शृंग पर सहसा कोई नील कमल प्रस्फुटित हो गया हो.....

अब डर किस बात का? तुमने अपनी महानता जान ली, इस कालकूट में सर्वांग डूबकर तुम विवेक की चरम सीमा तक पहुँच

जाओगे। हलाहल तुम्हारे व्यक्तित्व को डुबाने का नहीं ऊपर उठाने का एक साधन है। और यदि सुरा पर ही तुम्हारा अनुराग है तो उसका स्वाद भी तुम इसे पीकर ही पहचानोगे। सीधी रेखा का अनुमान वक्र रेखा से तुलना करने पर ही होता है। हलाहल जब तुम्हारे शरीर की सारी इठलाती हुई नसों में प्रविष्ट हो जायगा तभी तुम्हें हाला के सीधे तीर का गौरव मालूम पड़ेगा। तभी तुम जान सकोगे कि तुममें कितनी जीवन शक्ति है, तुम्हारी सीमाओं का विस्तार कहाँ तक है। तभी जान सकोगे,

'कि तुम हो संसृति से भयभीत
कि तुमसे भय खाता संसार !'

विश्रांत पथिक, मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारी मोह-तमिस्रा भाग रही है। तुम्हारी विचार-शक्ति जिसे हाला ने कुंठित कर रक्खा था फिर तीव्र हो रही है, तुम्हारे मस्तिष्क से प्रवंचना का आवरण दूर हो रहा है,—तुम जीवन के तत्त्व को समझने लगे हो। तुम जान गए हो कि मानव हाला से, माधुर्य की अतृप्त प्यास से मारा जाता है, हलाहल से नहीं। तुम्हारे क्षीण-निष्प्रभ नेत्रों में एक अपूर्व तिमिर विदारक ज्योति घनीभूत हो रही है जैसे कि हलाहल जाज्वल्यमान हो उठा हो। देखता हूँ कि तुममें सहसा संसार के सारे पापों का भार उठाने की क्षमता आ गई है। तुम हलाहल की काल्पनिक अनुभूति से ही सत्य और आनंद की पराकाष्ठा तक पहुँच गए हो। तुम्हारे व्यथित मानस पर शांति का साम्राज्य स्थापित हो रहा है—वह शांति जो गरल में निहित है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि आँखों में नींद।

और देखो यह कैसा अप्रत्याशित परिवर्तन होने लगा! तुम्हारे मृत्युंजय संकल्प ने तो गरल को जल से भी सरल बना दिया। इसकी

कटुता, इसकी भयंकरता, इसकी नीली ऐंठन न जाने कहाँ विलीन हो गई,—

'पहुँच तेरे अधरों के पास
हलाहल काँप रहा है, देख,
मृत्यु के मुख के ऊपर दौड़
गई है सहसा भय की रेख !'

कालकूट को हृदयंगम करने के निश्चय ने ही तुम्हें भय और वेदना के अंतहीन शासन से उन्मुक्त कर दिया; तुम्हें जीवन और मृत्यु के, नाश और निर्माण के रहस्यमय केंद्र में पहुँचा दिया; कहाँ रहा अब अवसान का आतंक, कहाँ रही अब नश्वरता की विजय ? अब तुम्हें अपनी गरिमा का सच्चा आभास मिलेगा, अब तुम जान सकोगे कि जीवन के अजेय पंचतत्त्व अनल, अनिल, आकाश, मिट्टी और जल जिनकी भित्ति पर तुम्हारा यह संज्ञाओं का क्रीड़ास्थल शरीर अवलंबित है, तुम्हारी विशाल शक्ति के सम्मुख कितने निष्प्रभ और निष्प्राण हैं। तुम्हारी कल्पना और प्रणय की निर्माण शक्ति और तुम्हारे आदर्श असंतोष के ध्वंसकारी प्रहारों का सामना यह ऊँघते हुए नियति संचालित प्राकृतिक नियम क्या कर पाएँगे !

जीवन की अभिशप्त यात्रा से क्लांत पथिक, अब तुम मानव नहीं रहे; भय पर विजय पाकर तुम स्रष्टा और प्रलयंकर की उपाधियों से अलंकृत होने के अधिकारी हो गए हो।

लो हलाहल का यह विजित प्याला मैं विनीत भाव से तुम्हें अर्पित करता हूँ।

अमृतसर
१४-४-४६

रघुवंशकिशोर कपूर

हलाहल के पदों की प्रथम पंक्ति सूची

प्रथम पंक्ति			क्रम संख्या
जगत-घट को विष से कर पूर्ण	...	...	१
अभी तो हो न सकी थी पूर्ण	...	...	२
तृषातुर अधरों से जिस काल	...	...	३
जगत-घट तुझको दूँ यदि फोड़	...	...	४
अगर तुमसे लेता मुँह मोड़	...	...	५
तुम्हारी करता था जब खोज	...	...	६
मगर अंतर है केवल एक	...	...	७
न थी मधु की मामूली देन	...	...	८
सुरा को चख लेने के बाद	...	...	९
उषा की अमर किरण-सी दूर	...	...	१०
मधुर कितना मदिरा का नाम	...	...	११
ज़रा सी मधु मदिरा में डूब	...	...	१२
गये थे जीवन को जो सींच	...	...	१३
मगर मन की दुर्बलता, हाय,	...	...	१४
पकड़ रक्खा मदिरा का पात्र	...	...	१५
हलाहल पीना है तो देख	...	...	१६
मुझे केवल मदिरा का ध्यान	...	...	१७
रहा जब मधुबाला के साथ	...	...	१८
चलाई तुमने पत्थर-ईंट	...	...	१९

प्रथम पंक्ति			क्रम संख्या
न मैंने देखा है किस ओर	...	...	२०
न पढ़ पाया मैं वेद-पुराण	...	...	२१
जिन्होंने मदिरा पी थी साथ	...	...	२२
एक युग तक था जिनका साथ	...	...	२३
मुझे भी ले सकते थे साथ	...	...	२४
हलाहल में न बँटाया भाग	...	...	२५
विदा ले स्वप्न गए उस देश	...	...	२६
सुरा पीने को थी बाज़ार	...	...	२७
सुरा का आया था जब स्वप्न	...	...	२८
हलाहल को पाकर अविराम	...	...	२९
हिचकते औ' होते भयभीत	...	...	३०
हलाहल जीवन में क्षय रूप	...	...	३१
नहीं मैं यह कहता हूँ भूल	...	...	३२
हुई थी मदिरा मुझको प्राप्त	...	...	३३
गया जब स्नेह-सरोवर सूख	...	...	३४
बताए इसका कौन जवाब	...	...	३५
यहाँ हम पाते भी यदि स्नेह	...	...	३६
बनाते हम जो जग के बीच	...	...	३७
बनाया हमने जिसको साथ	...	...	३८
मिटा सब जिसके मन का मोह	...	...	३९
लगाकर अपनी सारी शक्ति	...	...	४०
लौह की ले वज़नी ज़ंजीर	...	...	४१
किया मैंने विषमय हर आज	...	...	४२

प्रथम पंक्ति			क्रम संख्या
कि जीवन आशा का उल्लास	...	...	४३
गगन वातायन पर आसीन	...	...	४४
प्रकृति के आँगन से लूँ सीख	...	...	४५
आज दस बरसों से यह पीत	...	...	४६
शिशिर की आहत आकृति देख	...	...	४७
यहाँ यदि हम हँसते, नादान,	...	...	४८
न जीवन है रोने का ठौर	...	...	४९
जगत है चक्की एक विराट	...	...	५०
अगर जग से मानव घबराय	...	...	५१
पूर्वजों का था यह सौभाग्य	...	...	५२
बड़ा भारी कोई षड्यंत्र	...	...	५३
अवनि से जब उठती है ऊब	...	...	५४
और मानव का धन्य स्वभाव	...	...	५५
जहाँ पर पग-पग सीमित भूमि	...	...	५६
रहे गुंजित सब दिन, सब काल	...	...	५७
एक दिन बुझ जाएगा सूर्य	...	...	५८
एक दिन दृढ़ चीनी दीवार	...	...	५९
एक दिन हंस-कमल युत दीर्घ	...	...	६०
एक दिन काल प्रबल के हाथ	...	...	६१
एक दिन चिर विनाश की श्वास	...	...	६२
इधर है मरुथल शून्य अनादि	...	...	६३
काल-मापक यंत्रों के बीच	...	...	६४
यहाँ पर देश अनादि-अनंत	...	...	६५

प्रथम पंक्ति			क्रम संख्या
अजानेपन का तो यह हाल	...	...	६६
सिंधु में बहता यह तृण सूक्ष्म	...	...	६७
अचल, रे अचल नहीं गिरि-शैल	...	...	६८
प्रतिक्षण देख हमारा नाश	...	...	६९
उठाने में होंगे असमर्थ	...	...	७०
मिटा ज्योंही रजनीपति चंद्र	...	...	७१
लगा होठों को श्रवण समीप	...	...	७२
नरक जिसके रहने का स्थान	...	...	७३
सुरों को, असुरों को भी ज्ञात	...	...	७४
सभी जब हो जाएगा नष्ट	...	...	७५
न झिझका औ' न हुआ भयभीत	...	...	७६
हुआ था मुझको जब संदेह	...	...	७७
उठा करता था मन में प्रश्न	...	...	७८
और मैं लेकर बैठा आस	...	...	७९
अंत का इतना था विश्वास	...	...	८०
किसी भावुक क्षण में दो बात	...	...	८१
कहाँ है अकबर का वह स्वप्न	...	...	८२
घूमती नूरमहल थी एक	...	...	८३
किसी दिन सिंहासन पर बैठ	...	...	८४
जहाँ पर रूपमती औ' बाज़बहादुर	...	...	८५
जगत की चहल-पहल से दूर	...	...	८६
और उनका वह 'महल जहाज़'	...	...	८७
खड़े कुछ ऐसे भी प्रासाद	...	...	८८

प्रथम पंक्ति			क्रम संख्या
उड़े दो प्रणय-पखेरू छोड़	...	...	८६
जहाँ तुम करते थे अभिसार	...	...	६०
जहाँ पर चमकीले, रंगीन	...	...	६१
परी-सी थी मलका मुमताज़	...	...	६२
किसी ने बनवाया भी ताज	...	...	६३
तुम्हारी ताज़ी रक्खूँ याद	...	...	६४
विजय की बस चप्पा भर भूमि	...	...	६५
विजय करके सारा संसार	...	...	६६
कहाँ है अब नृप औरँगज़ेब	...	...	६७
समझ, तुमको पाने को जीत	...	...	६८
और तुमको खोकर भी आज	...	...	६६
महल, मंदिर, गुंबद, मीनार	...	...	१००
निगाहों में थे नक़शे खींच	...	...	१०१
किया था स्वर्गों का निर्माण	...	...	१०२
मनोहर गुड़ियों का घर टूट	...	...	१०३
मुझे यदि निश्चय भी हो जाय	...	...	१०४
नहीं उठते थे गृह-प्रासाद	...	...	१०५
देखकर तुझको रचनामग्न	...	...	१०६
नहीं है यह मानव की हार	...	...	१०७
हलाहल और अमिय-मद एक	...	...	१०८
सुरा है जीवन का वह स्वप्न	...	...	१०६
बिठाएगी अमरों के साथ	...	...	११०
मुक्ति ही यदि जीवन का ध्येय	...	...	१११

प्रथम पंक्ति			क्रम संख्या
बड़ी जगती समोहनशील	...	...	११२
सुरा पी थी मैंने दिन चार	...	...	११३
कल्पना कर ली स्वर्गासीन	...	...	११४
अमर हैं तो है अमरण, हाय,	...	...	११५
न मुझको मधुता ही पर्याप्त	...	...	११६
हमारी लघुता का यह ज्ञान	...	...	११७
सुरा के प्याले में भी डूब	...	...	११८
इंद्रधनु को बाहों में बांध	...	...	११९
निशा ने पाया जब वरदान	...	...	१२०
मिला जब किरणों को अधिकार	...	...	१२१
निशा क्या जाने अपनी मुक्ति	...	...	१२२
दिया जब रवि को सहसा डाल	...	...	१२३
समुंदर ने जब पाया शाप	...	...	१२४
मिला जब तारों को यह शाप	...	...	१२५
सूर्य क्या जाने अपना ताप	...	...	१२६
हमारे परितापों का ज्ञात	...	...	१२७
देखने को मुट्ठी भर धूलि	...	...	१२८
उपेक्षित हो क्षिति से दिन-रात	...	...	१२९
आसरा मत ऊपर का देख	...	...	१३०
कहीं मैं हो जाऊँ लयमान	...	...	१३१
हलाहल तो है ऐसा तत्त्व	...	...	१३२
सलिल-मारुत को बाहें ठोंक	...	...	१३३
निमंत्रित करता बाड़व ज्वाल	...	...	१३४

प्रथम पंक्ति		क्रम संख्या
और यह मिट्टी है हैरान	... ...	१३५
चुनौती झंझा को दे क्रुद्ध	... ...	१३६
पहुँच तेरे अधरों के पास	... ...	१३७
हलाहल पीकर लेगा जान	... ...	१३८
नहीं साहस कर सकता व्योम	... ...	१३९
और इस मिट्टी के तो साथ	... ...	१४०
हलाहल पीकर लेगा जान	... ...	१४१
नहीं सकता है अंबर फैल	... ...	१४२
और इस मिट्टी के तो साथ	... ...	१४३
कहीं यह मिट्टी सकती जान	... ...	१४४
कहीं यह अंबर सकता जान	... ...	१४५
कहीं यह झंझा सकती जान	... ...	१४६
कहीं यह ज्वाला सकती जान	... ...	१४७
कहीं यह सागर सकता जान *	... ...	१४८

* ये चतुष्पदी या चौपदे हैं। इनमें चार ही पद हैं। प्रत्येक पद पृष्ठ कम चौड़ा होने के कारण दो पंक्तियों में तोड़ दिया गया है। पढ़ने में प्रवाह का आनंद लेने के लिए यह आवश्यक है कि पाठक पंक्तियों पर न रुककर पदों पर रुकें।

हलाहल

गरल पान करके तू बैठा,
फेर पुतलियाँ, कर-पग ऐंठा,
यह कोई कर सकता, मुर्दे, तुझको अब उठ गाना होगा !
विष का स्वाद बताना होगा !

—एकांत संगीत

१

जगत-घट को विष से कर पूर्ण
किया जिन हाथों ने तैयार,
लगाया उसके मुख पर, नारि,
तुम्हारे अधरों का मधु सार;

नहीं तो कब का देता तोड़
पुरुष विष-घट यह ठोकर मार,
इसी मधु का लेने को स्वाद
हलाहल पी जाता संसार!

२

अभी तो हो न सकी थी पूर्ण
अधर की अधरों से पहचान,
हुआ था केवल पहली बार
चुंबनों का आदान-प्रदान,
कि होठों पर की पहली चोट
गरल ने उठ ऊपर की ओर,
गई मानो विद्युत की धार
हृदय-तन-मन मेरा झकझोर।

३

तृषातुर अधरों से जिस काल
किया था मदिरा का आह्वान,
मुझे इसका था पूरा ज्ञान
गरल भी करना होगा पान;
मधुर ले, कटु को दूँगा छोड़
समझता, क्या था मूर्ख-गँवार,
हलाहल के स्वागत को किंतु
न था इतनी जल्दी तैयार।

४

जगत-घट, तुझको दूँ यदि फोड़
प्रलय हो जाएगा तत्काल,
मगर सुमदिर, सुंदरि, सुकुमारि,
तुम्हारा आता मुझको ख्याल;

न तुम होतीं तो, मानो ठीक,
मिटा देता मैं अपनी प्यास,
वासना है' मेरी विकराल,
अधिक, पर, अपने पर विश्वास !

५

अगर तुमसे लेता मुँह मोड़,
विनिंदित होता है पुरुषत्व,
नहीं तो करता मेरा नाश
मुझे छूकर यह घातक तत्त्व,

अगर जाती है मेरी लाज
करूँगा क्या रखकर मैं साँस,
मनाओ, नभ-दूतो, आनंद,
तुम्हारा सफल हुआ छल-पाश।

६

तुम्हारी करता था जब खोज
लिए व्रत, साधन, शक्ति अटूट,
निरंतर भ्रांति-भ्रमों से व्यग्र
रहा था पी विष के ही घूँट,

तुम्हें अब करके भी तो प्राप्त
रहा हूँ विष ही आगे देख,
हलाहल के दो युग के बीच
एक मदिरा की कल्पित रेख!

७

मगर अंतर है केवल एक,
प्रथम हालाहल युग था मौन,
तुम्हारे होठों से, पर, होठ
लगा चुप रह सकता है कौन,

मिले माहुर की घातक धार,
मिले मदिरा की मादक बूँद,
गया है खुल अब मेरा कंठ
नहीं मैं मुँह सकता हूँ मूँद।

८

न थी मधु की मामूली देन
कि उसका बिसरा दूँ उपकार,
रहा है अब भी जग में गूँज
तुम्हारे क्षण भर का उपहार;

गरल पी भी मेरी आवाज़
अमरता का गाएगी गान,
इसे भी मैं देने के हेतु
तुम्हारा मानूँगा एहसान।

९

सुरा को चख लेने के बाद
कठिन हालाहल से अनुराग,
कठिनता से लड़ने का योग
लिखा लाया, पर, मेरा भाग,

उदय ऐसा होता मालूम
किसी कोने का पुण्य-प्रताप,
किया था मधु पाने का यत्न,
हलाहल आया अपने-आप।

१०

उषा की अमर किरण-सी दूर
चमकती थी मदिरा की रेख,
तिमिर बन घन कर आया पार
उसी को अपलक-अविचल देख,

और अब लेकर उसकी याद
दूसरे तम से लेता होड़,
न छोड़ेगी यह मेरा साथ
मुझे सब सुधियाँ जाएँ छोड़।

११

मधुर कितना मदिरा का नाम,
मदिर कितना मदिरा का ध्यान,
मोहमय कितना मधु का पात्र,
मुक्तिमय कितना मधु का पान!

मगर आ इस दुनिया के बीच,
अरे ओ भाग्य-मलिन इंसान,
बहुत से रस हैं जिनके साथ
तुझे करनी होगी पहचान।

१२

ज़रा-सी मधु मदिरा में डूब,
सभी सुध-बुध पल भर में भूल,
समय-बंधन से हो स्वच्छंद
रहा सपनों का झूला झूल!

मगर ओ अभिमानी इंसान,
दृगों की मोह तमिस्रा त्याग,
उसे भी आँखें खोल निहार
हलाहल का जो तेरा भाग।

१३

गए ये जीवन को जो सींच
प्रवाहित कर मदिरा की धार,
हलाहल उनका ही उपहार
तुझे कैसे होगा इन्कार;

बुला मदिरा से कर अभिषेक
उन्होंने रक्खा तेरा मान,
तुझे रखनी है अपनी शान
कि विष पी मुँह पर ले मुसकान।

१४

मगर मन की दुर्बलता, हाय,
बुद्धि के बल पर पाती जीत,
बड़ी ही कठिनाई के साथ
भुलाई जाती पिछली प्रीति,

हलाहल के आगे लो देख
झुका है मेरा विधिवत माथ,
मगर मधु प्याली पर से, हाय,
नहीं हटता है मेरा हाथ।

१५

पकड़ रक्खा मदिरा का पात्र
मगर क्या होना है परिणाम,
भले हो मधु अधरों के पास
मगर हैं दूर गए मधु याम,

और जब दूर गए मधु याम
पड़ा सब पहले का सामान,
मगर मधु के अंदर से, हाय,
गया हो मधुता का अवसान।

१६

हलाहल पीना है तो देख
न आगे क्या होगा परिणाम,
नहीं मुख से बोले अपशब्द,
पिया जब तूने मधु का जाम,

हुई मदिरा कुछ से कुछ और
मिला जब उसको तेरा स्नेह,
हलाहल के प्याले को देख
तुझे क्यों अपने पर संदेह?

१७

मुझे केवल मदिरा का ध्यान,
मुझे केवल मदिरा का मान,
बहुत कुछ मदिरा के अतिरिक्त
जगत में, इसका मुझको ज्ञान,

करोगे यदि मुझको मजबूर
पड़ेगा मुझको कहना झूठ,
बताऊँगा जीवन का स्वाद
हलाहल भी पी लूँ दो घूँट।

१८

रहा जब मधुबाला के साथ,
किया जब निशिदिन मधु का पान,
मुझे भूला कब अपना होश,
मुझे भूला कब अपना ज्ञान;

हलाहल की धारा के बीच
नहीं डर, डूबेगा अस्तित्व,
गगन से होता है संकेत
उठेगा और अभी व्यक्तित्व।

१९

चलाई तुमने पत्थर - ईंट
देखकर मदिरा मेरे हाथ,
तुम्हारे हाथ नहीं हैं शांत
हलाहल गो अब मेरे साथ,

तुम्हें है कुछ भी हेय न श्रेय
हुए तुम आदत से मजबूर,
असाधू हूँ मैं, लूँ मैं मान
मगर था साधू तो मंसूर।

२०

न मैंने देखा है किस ओर
गगन के नयनों का संकेत,
न मैंने सोचा है किस ओर
हवाएँ दुनिया की अभिप्रेत,

यही तो मेरी सारी शक्ति,
यही तो मेरा सारा ज़ोर,
नहीं रक्खे दो पद भी भूल
कभी जीवन का दामन छोड़।

२१

न पढ़ पाया मैं वेद-पुराण,
न पढ़ पाया इंजील-क़ुरान,
और ही कुछ पढ़ने की ओर
गया ग़लती से मेरा ध्यान;

नियति के हाथों से जो लेख
लिखा लाया मानव का भाल,
खपाकर अपना तन-मन-प्राण
रहा हूँ उसका अर्थ निकाल।

२२

जिन्होंने मदिरा पी थी साथ
किया था यह मुझसे इक़रार,
रहेंगे एक उठे सैलाब,
रहेंगे एक गिरे अंगार;

नहीं मैं उनको देता दोष,
बुरी थी मेरी ही तक़दीर,
इधर मैं हूँ, वे हैं उसपार,
बीच में विष की एक लकीर।

२३

एक युग तक था जिनका साथ
नहीं थी उनसे यह उम्मेद,
कि वे अपने औ' मेरे बीच
बना रक्खेंगे कोई भेद,

निकट है मधु मदिरा का अंत
गए वे कुछ चिह्नों से भाँप,
विदा लेकर, भागे कुछ लोग,
बिना माँगे ही कुछ, चुपचाप।

२४

मुझे भी ले सकते थे साथ
मगर है यह भी अच्छी बात,
अकेली मेरी छाती शेष
घनों का सहने को आघात,

नहीं वे ही हैं दुख में देख
मुझे, जिनको होता संताप,
नहीं वे ही, जिनका दुख देख
कलेजा मेरा उठता काँप।

२५

हलाहल में न बँटाया भाग—
नहीं मैं इसपर धुनता माथ,
न पाए मुझको तुम पहचान
रहे यद्यपि इतने दिन साथ,

सुरा अपने हिस्से की दान
तुम्हें कर देता था सुख मान,
तुम्हारे हाथों से मैं छीन
मगर कर जाता विष का पान।

२६

विदा ले स्वप्न गए उस देश
जहाँ से आए थे साह्लाद,
जगत का सत्य कठोर - कुरूप
मिटाता पल-पल उनकी याद,

सुरा के साथी यदि तुम लौट
कभी फिर आओगे इस ठौर,
हमें पाओगे तुम कुछ और,
हमारी दुनिया को कुछ और।

२७

सुरा पीने को थी बाज़ार
हलाहल पीने को एकांत,
सुरा पीने को सौ मनुहार
हलाहल पीने को मन शांत,

हलाहल पीने में भी साथ
किसी का चाहो, तो नादान,
अकेलापन है पहला घँट
हलाहल का लो इसको जान।

२८

सुरा का आया था जब स्वप्न
उसी के बीच गया था डूब,
मुझे तो है ही यह मालूम
और है दुनिया को भी खूब,

हलाहल की उमड़ी है धार,
करूँगा मथकर इसको पार,
यहाँ जो भी आता है पास
उसे मिलता हूँ बाहु पसार।

२९

हलाहल को पाकर अविराम
प्रवाहित होते अपनी ओर,
बड़ी होगी लज्जा की बात
अगर मैं मुँह लेता हूँ मोड़,

लिया जब पीने का व्रत धार
तुम्हारा भी स्वागत-सत्कार,
तुम्हें भी मेरी पागल प्यास,
तुम्हें भी मेरा पागल प्यार।

३०

हिचकते औ' होते भयभीत
सुरा को जो करते स्वीकार,
उन्हें वह मस्ती का उपहार
हलाहल बनकर देता मार;

मगर जो उत्सुक-मन, झुक-झूम
हलाहल पी जाते साह्लाद,
उन्हें इस विष में होता प्राप्त
अमर मदिरा का मादक स्वाद।

३१

हलाहल जीवन में क्षय रूप
करेगा पल-पल जीवन क्षीण,
इसे, पर, पीने की अनुभूति
बड़ी ही अद्भुत और नवीन,

रहूँ मैं, माना, इससे दूर,
न समझूँ इसका मान-महत्व,
मगर मधु पीने से ही कौन
मुझे मिल जाना है अमरत्व।

३२

नहीं मैं यह कहता हूँ भूल
कि जब था आमज्जित मधु बीच,
नहीं क्यों आकर मुझको मौत
गई ले इस जीवन से खींच,

तभी मैं करता यदि प्रस्थान
अधूरा रहता मेरा ज्ञान,
मुझे आया है मधु का स्वाद
हलाहल पी लेने के बाद।

३३

हुई थी मदिरा मुझको प्राप्त
नहीं पर थी वह भेंट, न दान,
अमृत भी मुझको अस्वीकार
अगर कुंठित हो मेरा मान;

दृगों ने मोती की निधि खोल
चुकाया था मधुकण का मोल,
हलाहल आया है यदि पास
हृदय का लोहू दूँगा तोल!

३४

गया जब स्नेह सरोवर सूख
लहरता था जो चारों ओर,
बुझाता जो था मेरी प्यास,
बनाता जो था मत्त-विभोर,

हुई कब तृष्णा कुछ भी न्यून
उसे जीने की साध अटूट,
सुरक्षित रक्खे थी अस्तित्व
हृदय के लोहू का पी घूँट।

३५

बताए इसका कौन जवाब—
अकेला मानव क्यों असहाय ?
प्रणय की क्यों उसको दरकार ?
मगर क्यों पाने में निरुपाय ?

प्रणय के अस्थिर है क्यों पाँव ?
छोड़ क्यों जाता शून्य—अभाव ?
नहीं भरने पाता क्यों, हाय,
हृदय में कर जाता जो घाव ?

३६

यहाँ हम पाते भी यदि स्नेह
बनाते काग़ज़ का संसार,
नहीं बनकर होता तैयार
कि जलकर हो जाता है क्षार;

जलाना ही है उसका काम
नहीं, पर, दोषी इसमें आग,
हमीं काग़ज़ के घर में बैठ
उठाया करते दीपक राग!

३७

बनाते हम जो जग के बीच
प्रणय का अभिनव लोक पुनीत,
इसी से कर लोगे अनुमान
कि दृढ़ कितनी है उसकी भीत—

जगत की एक अपावन डीठ
ढहाकर करती उसको ढेर,
प्रकट, जो होना है परिणाम
अगर दे आँखें काल तरेर।

३८

बनाया हमने जिसको साथ
मिटाने को स्वप्नों का राज,
अगर विधि भी होता तैयार
टूटता मैं उसपर बन गाज,

ढहाते पर ये किसके हाथ
प्रणय का मेरा प्रिय आवास,
कि मैं यों बैठा हूँ चुपचाप
देखता अपना सत्यानाश।

३९

मिटा सब जिसके मन का मोह,
गया सब जिसके मन से राग,
जुटा सब जीवन के अरमान
लगा जो आया उसमें आग,

प्रलोभन उसके पथ में डाल
जगाते फिर क्यों उसकी साध?
करे वह किसके प्रति अन्याय,
करे वह किसके प्रति अपराध?

४०

लगाकर अपनी सारी शक्ति
मुझे ले जाते हो जिस ओर,
उधर से मुँह लूँ अपना मोड़,
कहाँ मुझमें है इतना ज़ोर;

चलूँ तो बनता पापी घोर,
हटूँ तो होता हेय पदार्थ,
कठिन पापों के पथ पर आज
परीक्षित है मेरा पुरुषार्थ!

४१

लौह की ले वज़नी ज़ंजीर
अगर तुम देते मुझको बाँध,
तोड़कर होने में आज़ाद
न मुझको लगता लमहा आध,

सुरुचि को कर मुझमें मज़बूत
बनाया मुझको उसका दास,
मुझे मादक, मोहक, छविमान
बँधाए शत-शत आशा-पाश।

४२

किया मैंने विषमय हर 'आज'
कि मेरा हर 'कल' हो मधुमान,
बताता जीवन का इतिहास
ग़लत निकला मेरा अनुमान;

विफल है मेरा 'कल' हर एक
मगर फिर भी 'कल' एक पुकार
यहाँ कहता—'मुझमें संभाव्य
तुम्हारे सब 'कल' का प्रतिकार !'

४३

कि जीवन आशा का उल्लास,
कि जीवन आशा का उपहास,
कि जीवन आशामय उद्गार,
कि जीवन आशाहीन पुकार,

दिवा-निशि की सीमा पर बैठ
निकालूँ भी तो क्या परिणाम,
विहँसता आता है हर प्रात,
बिलखती जाती है हर शाम !

४४

गगन वातायन पर आसीन
उषा का सुंदर स्वर्णिम चीर
सुबह लहराता जो चल मंद
सुवासित, शीतल, स्निग्ध समीर,

वही अति निर्ममता के साथ
पकड़ उसके आँचल का छोर
निशा की कलुषित कालिख बीच
उसे बरबस देता है बोर।

४५

प्रकृति के आँगन से लूँ सीख
भला क्या जीवन का संदेश,
विभा-मज्जित ऊषा का हास
तिमिर में डूबा संध्या-वेष,

गया था दे मुझको जो दान
दिवस में कोयल का आह्लाद,
गया ले उसको निशि में छीन
पपीहे का व्यापक अवसाद।

४६

आज दस बरसों से यह पीत
चमेली खिलती एक प्रकार,
उतर आती इसपर हर साल
अनोखी एक बसंत - बहार,

मगर आकर हर बार बसंत
पूछता मुझसे एक सवाल,
वही क्या तुम हो सचमुच व्यक्ति
जिसे मैंने देखा परसाल !

४७

शिशिर की श्रीहत आकृति देख
न रुकती थी आँसू की धार,
कि सहसा आकर तन-मन-प्राण
गई गुदगुदा बसंत - बयार,

अभी कर भी न सका था पूर्ण
बसंती वैभव का गुणगान,
गया थप्पड़-सा मुँह पर मार
अचानक पतझड़ का तूफ़ान !

४८

यहाँ यदि हम हँसते, नादान,
यहाँ यदि हम रोते, अज्ञान,
रहा हो इन दोनों से दूर
नहीं देखा मैंने इंसान;

हँसी सुनकर आकाश उदास,
रुदन सुनकर धरती सोल्लास,
हँसी का नभ करता अपमान
रुदन का क्षिति करती उपहास।

४९

न जीवन है रोने का ठौर,
न जीवन खुश होने का ठौर,
न होने का अनुरक्त, विरक्त,
अगर देखो कुछ करके ग़ौर,

कभी तो उठती मन में बात
कि बस सब धुन-धंधों को छोड़,
एक अचरज से मुख-दृग खोल
एक टक देखूँ जग की ओर।

५०

जगत है चक्की एक विराट
पाट दो जिसके दीर्घाकार—
गगन जिसका ऊपर फैलाव
अवनि जिसका नीचे विस्तार;

नहीं इसमें पड़ने का खेद,
मुझे तो यह करता हैरान,
कि घिसता है यह यंत्र महान
कि पिसता है यह लघु इंसान!

५१

अगर जग से मानव घबराय
कहाँ पर वह बेचारा जाय,
धरा में धँसने से असमर्थ
गगन पर चढ़ने को निरुपाय,

प्रार्थना का यदि ले अवलंब
कहाँ है देवों का आवास!
अगर हो भी उसका अस्तित्व,
कहाँ है अंतर में विश्वास!

५२

पूर्वजों का था यह सौभाग्य
कि उनका था यह दृढ़ विश्वास,
धरा पर छाया अंबर नील
दयामय देवों का अधिवास,

हमारे हेतु मगर यह शून्य,
शून्य चिर, केवल विस्तृत शून्य,
किया जो करता है अविराम
हमारी लघुता का उपहास।

५३

बड़ा भारी कोई षड्यंत्र
रचा है मेरे चारों ओर,
कि मैं हूँ बाहर भी लाचार,
कि मैं हूँ भीतर भी कमज़ोर,

हुआ मैं जिस दिन से बाहोश
मुझे भरमाती आई चाह,
किया मैंने जब से प्रस्थान
मुझे भटकाती आई राह।

५४

अवनि से जब उठती है ऊब
गगन पर चढ़ती मेरी चाह,
धरा पर गिरती फिर निरुपाय
नहीं जब नभ करता परवाह;

विवश मैं धरती पर आसीन,
विवश मैं अंबर पर उड्डीन,
धरणि की ममता से मैं हीन,
गगन की करुणा से मैं हीन।

५५

और मानव का धन्य स्वभाव
कि इन सब परितापों के बीच,
नहीं चुप हो, सकता है बैठ
धैर्य से अपनी साँसें खींच,

किसी का देखेगा अन्याय,
किसी के सिर पर देगा दोष,
किसी की दिखलाएगा भूल,
तभी कुछ पाएगा संतोष।

५६

जहाँ पर पग-पग सीमित भूमि
वहाँ पर इच्छा सीमाहीन,
बड़ा आकर्षक है आकाश
मगर पैरों के पास ज़मीन;

जहाँ पर हारा है संसार
वहाँ पर तेरी कैसी जीत,
निरख उसको भी आँखें खोल
रही है दुनिया पर जो बीत।

५७

रहे गुंजित सब दिन, सब काल
नहीं ऐसा कोई भी राग,
रहे जगती सब दिन सब काल
नहीं ऐसी कोई भी आग,

गगन का तेजोपुंज, विशाल,
जगत के जीवन का आधार
असीमित नभ मंडल के बीच
सूर्य बुझता-सा एक चिराग़।

५८

एक दिन बुझ जाएगा सूर्य
प्रकाशित जिससे सब संसार,
एक दिन बुझ जाएगा चाँद
निशा का सुंदरतम शृंगार,
एक दिन बुझ जाएँगे दीप
गगन के सब, खद्योत, विचार—
अर्थ क्या रखता बुझना सोच
मचाना तेरा हाहाकार।

५९

एक दिन दृढ़ चीनी दीवार
गिरेगी, गिरकर होगी क्षार,
धरालुंठित होगी दिन एक
क़ुतुब की नभचुंबी मीनार,
धँसेगी मरु में मिस्र - समाधि
किसी दिन, कुटिया, तनिक विचार—
अर्थ क्या रखता मिटना सोच
मचाना तेरा हाहाकार।

६०

एक दिन हंस-कमल युत दीर्घ
सरोवर होंगे जल से हीन,
करेंगी प्यास-प्यास दिन एक
जगत की नदियाँ होकर दीन,

एक दिन काल अग्निशर चंड
सोख लेंगे सागर गंभीर,
कौन-सी गिनती में, नादान,
तुम्हारी आँखों का यह नीर।

६१

एक दिन काल प्रबल के हाथ
हिमालय के धर कंध विशाल,
एक झटके में नस-नस तोड़
धरा पर 'धम' से देंगे डाल,

रजत का उसका मुकुट विराट
बनेगा रज के कण का ग्रास,
लिखा जाते मानव सम्राट
शिलाओं पर अपना इतिहास!

६२

एक दिन चिर विनाश की श्वास
फूँक देगी सब वेद-पुराण,
फूँक देगी पावन इंजील
भस्म कर देगी पूत क़ुरान,

राख होंगे सब, कवि सम्राट,
तुम्हारे गौरव काव्य-किरीट,
हमारी तुकबंदी के हेतु
बहुत होंगे लघु-लघु कृमि-कीट।

६३

इधर है मरुथल शून्य अनादि,
उधर है लय मरुदेश अनंत,
बसा है इन दोनों के बीच
एक लघु कण पर सृष्टि बसंत,

एक लघु क्षण ले कोकिल कूक,
चतुर्दिक आँधी के आसार,
एक लघु कंपन भर की देर,
मरुस्थल होता एकाकार।

६४

काल-मापक यंत्रों के बीच
बालुका के किनकों की माल
मध्य-छिद्रों से गिर दिन-रात
व्यक्त करती घड़ियों की चाल,

किसी का ऐसा यंत्र विराट
कणों में भूमि, हमारी एक,
सृजन-लय में आ-जा अविराम
क्षणों का करती है अवरेख!

६५

यहाँ पर देश अनादि - अनंत,
यहाँ पर काल अनादि - अनंत,
मनुज का इनमें कितना अंश
शून्य से बस ऊपर, हा, हंत!

मनुष्यों को हो जब तक प्राप्त
न संसृति की गुरुता का ज्ञान,
असंभव करना उनके हेतु
स्वयं निज लघुता का अनुमान!

६६

अजानेपन का तो यह हाल
कि हम क्या थे कल यह अज्ञात,
नहीं देती कुछ भी आभास
हमें कल होने वाली बात,

न जाने किस बूते पर भूल
हमारे सारे संत - महंत,
उधर से चलते जिधर अनादि
उधर को जाते जिधर अनंत।

६७

सिंधु में बहता यह तृण सूक्ष्म,
कि मरुथल में उड़ता कण क्षीण,
शून्य में भ्रमती जो यह भूमि
विंदु सी स्थिति सत्ता से हीन,

और इस अणु पर अगणित जीव
कि जिनमें मानव, धिक् अविवेक,
'सृष्टि के स्वामी' का ले नाम
कराता है अपना अभिषेक!

६८

अचल, रे अचल नहीं गिरि-शैल,
अचल है चलने का व्यापार,
मिला जिसको है अचला नाम
रही है ढो जीवन का भार!

नहीं अक्षय, अक्षयवट वृक्ष,
एक अक्षय है क्षय निःशेष,
अमर, ओ अमर नहीं सुर-देव
अमर है मरने का संदेश!

६९

प्रतिक्षण देख हमारा नाश
अधर पर अमरों के मुसकान,
अमरता का करती अभिमान
मर्त्य के सपनों की संतान।

तुम्हारी सत्ता ही क्या, देव,
मुझे कहना कुछ और महान,
न रह जाएगा जिस दिन भक्त
नहीं रह पाएगा भगवान!

७०

उठाने में होंगे असमर्थ
लेखनी जिस दिन कवि-कर क्षीण,
उसी दिन होगी शत-शत खंड
गिरे, गिर तेरे कर की बीन,

कल्पना - कवि - रवि-रश्मि-प्रकाश
पड़ेगा जग में जिस क्षण मंद,
उसी क्षण तेरे नीरज - नेत्र
कमल-वन-चारिणि, होंगे बंद।

७१

मिटा ज्यों ही रजनीपति चंद्र
अमित हिम किरणों का आगार,
जहाँ सूखी शिव - सिर - आसीन
सदा शीतल सुरसरि की धार,

गरल बदला लेने के हेतु
करेगा तैयारी तत्काल,
उफन उर से ऊपर की ओर
विदारेगा शंकर का भाल!

७२

लगा होठों को श्रवण समीप
सुरा यह बोलो थी दिन एक,
अमरता का है तुझमें तत्त्व,
समझता भिन्न अगर, अविवेक;

हलाहल आ अधरों के पास
और ही देता है संदेश,
मनुष्यों का हैं क्या अस्तित्व
यहाँ पर अमर नहीं सर्वेश।

७३

नरक जिसके रहने का स्थान
स्वर्ग का वह करता है ध्यान!
अचंभा करने का यह ठौर,
खोलकर सुन लो अपने कान।

नहीं क्या साधारण यह तर्क,
नहीं क्या स्वाभाविक यह बात
कि मरनेवालों का अनुमान
कि मरनेवाला है भगवान!

७४

सुरों को असुरों को भी ज्ञात
नहीं है, देव, तुम्हारा अंत,
तुम्हें कहते आए हैं वेद
सदा से अजर, अनादि, अनंत,

इसे कहलो मेरा अज्ञान,
कहो मेरी गति - मति का दोष,
मरोगे तुम भी—पर यह सोच
मुझे कुछ होता है संतोष !

७५

सभी जब हो जाएगा नष्ट
मरेगा भूखों काल महान,
दैव एकाकीपन से ऊब
तजेगा आत्मघात कर प्राण,

शून्य में उठ - उठ नीरव नाद
करेगा प्राप्त अनंत विकास—
प्रलय-लय-नाश ! प्रलय-लय-नाश !
प्रलय-लय-नाश ! प्रलय-लय-नाश !

७६

न झिझका औ' न हुआ भयभीत,
न भागा ही लेकरके प्राण,
दिखा जब मुझको आता काल
कफ़न का ले हाथों में थान,

बढ़ाया पट जब मेरी ओर
उठा तैयार हुआ तत्काल,
निकट जो मेरे थे वरदान
दिया, पर, उसने उनपर डाल!

७७

हुआ था मुझको जब संदेह
कि आता मेरा अंतिम याम,
दिए थे उनको कुछ संदेश
हिए में करते थे जो धाम,

गए हैं वे तो सो चुपचाप,
कफ़न से उठती एक पुकार—
दिए थे हमको जो उपदेश
तुम्हें है उनकी अब दरकार।

७८

उठा करता था मन में प्रश्न
कि जाने क्या होगा उस पार,
निवारण करने में संदेह
मज़हबी पोथे थे बेकार,

चले तुम, पूछा, हैं ! किस ओर ?
कहा बस तुमने एक ज़बान,
तुम्हें थी जिसकी खोज-तलाश
उसी का करने अनुसंधान...

७९

और मैं लेकर बैठा आस
कि फिर तुम आओगे इस पार,
नहीं मैं ही केवल बेज़ार,
प्रतीक्षा में है सब संसार;

गया उस देश न आया लौट,
अरे, कितना उसका विस्तार
कि उसकी जब करता है खोज
स्वयं खो जाता खोजनहार।

८०

अंत का इतना था विश्वास
विदा का लिख डाला था गीत,
कलेजे को हाथों से थाम
सुना करते थे मन के मीत,

गए वे तो तज मेरा साथ
मगर वह गीत लगा है संग,
ध्वनित हो बहु कंठों से आज
किया करता है मुझपर व्यंग।

८१

किसी भावुक क्षण में दो बात
जहाँ की थी हमने दिन एक,
बनाते हैं हम उसको तीर्थ
हमारा देखो तो अविवेक!

कभी घोषित होते थे रोज़
जहाँ से शाहों के फ़रमान,
स्वयं आँखों से आया देख
वहाँ रोया करते हैं श्वान!

८२

कहाँ है अकबर का वह स्वप्न
जिसे कर पत्थर से मज़बूत,
किया था उसने भूपर सत्य!
यहाँ पर थिर किसकी करतूत!

ढह रहे हैं गुंबद-प्रासाद
ढक रही उग-उग उनको घास,
सीकरी एक ठीकरी आज
फतहपुर काल - पराजित दास।

८३

घूमती नूरमहल थी एक
दिवस बन जिन महलों की नूर,
खड़े हैं खँडहर-से वे आज,
किसी दिन हो जाएँगे घूर,

नूर भी थी मिट्टी का अंश,
महल भी है मिट्टी का भाग,
धरे वह चाहे जिसके पास
धरोहर अपनी लेती माँग।

८४

किसी दिन सिंहासन पर बैठ
किया था नूरजहाँ ने राज,
मगर कंकड़-पत्थर के साथ
दबी है उसकी मिट्टी आज,

मक़बरा उसका आया देख
पड़ा भंभाता था सुनसान,
अँधेरा सोया था उस ठौर
जहाँ सोई थी नूरजहान।

८५

जहाँ पर रूपमती औ' बाज़-
बहादुर करते थे अभिसार,
प्रणय कल्पित-निर्मित वह आज
पड़ा है माँडू राज उजाड़;

जहाँ के पाषाणों ने गीत
प्रणय का गाया था दिन एक,
वहीं के खँडहर अब सुनसान
हृदय में करते भय-उद्रेक।

८६

जगत की चहल-पहल से दूर,
बड़ी दुर्गम घाटी के बीच
लगाया था यह प्रेमोद्यान
किसी ने स्नेह - सलिल से सींच,

किए थे सारे यत्न - उपाय
न हो इसमें कोई उत्पात,
मगर करता सबका उपहास
प्रलय का आया झंझावात!

८७

और उनका वह 'महल जहाज़'
चतुर्दिक जिसके बाग-तड़ाग,
सुमन-सरसिज दल से परिपूर्ण
सदा सरसाते थे अनुराग,

पड़ा है लावारिस-सा आज
भुला सब सपना, सब शृंगार,
बनों में बदल गए हैं बाग,
सरों में उगती सघन सिवार।

८८

खड़े कुछ ऐसे भी प्रासाद
नए-से जो लगते हैं आज,
मगर था उनमें जिनका वास
गिरी उनपर कब की यम-गाज,

द्वार-सा मानो वे मुँह फाड़
प्रश्न करते यह बारंबार,
'किया क्यों सदियों का सामान
नहीं जब रहना था दिन चार?'

८९

उड़े दो प्रणय पखेरू छोड़
निशा की कल-क्रीड़ा का नीड़,
समय-मर्दित हो ढह-बह जाय,
बचे, जैसी उसकी तकदीर,

बचा सकता है उसको कौन
समय की जिसपर पड़ती मार,
करें माँडू का जीर्णोद्धार
कहाँ तक, कब तक राजा-धार!

९०

जहाँ तुम करते थे अभिसार
पड़ी हैं जगहें वे सुनसान,
मगर यह तो कोरा अज्ञान—
तुम्हीं पर ऐसी विपद महान;

हुआ क्या उन महलों का हाल
कि जिनके अंदर इंद्र-समान,
विनोदे, प्रमोद, विलास, विहार
किया करता था शाहजहान।

९१

जहाँ पर चमकीले, रंगीन
झाड़-फ़ानूसों की थी शान,
लगाकर छत्ता बैठी बर्रे,
रही है मकड़ी जाला तान;

शाह औ' शहज़ादों के साथ
जहाँ रहती थी बी मुमताज़,
बढ़ाते उल्लू निज परिवार
लटकते हैं चमगादड़ आज!

९२

परी-सी थी मलका मुमताज़
उसे था कितना उसपर स्नेह,
मगर नश्वर तत्त्वों के साथ
बनी थी उसकी भी तो देह,

गई जब वह अपना तन छोड़
कलेजे पर धर एक पहाड़,
किया जैसे करते सब लोग,
दिया था मिट्टी में ही गाड़!

९३

किसी ने बनवाया भी ताज
किसी की यदि रखने को याद,
न क्या हो जाएगा वह जीर्ण
न क्या हो जाएगा बरबाद,

ताज का एक-एक पाषाण
कहा करता दिन-रात पुकार,
मुझे खा जाएगी दिन एक
इसी यमुना की भूखी धार।

९४

तुम्हारी ताज़ी रक्खूँ याद
भला कैसे रो, गाकर गीत,
समय की गान - रुदन के साथ
नहीं रोकी जा सकती जीत,

चला है ले जब तुमको छीन
तुम्हारी क्या छोड़ेगा याद
अभी ही कितनी सुधियाँ, हाय,
चुका कंधों पर अपने लाद।

९५

विजय की बस चप्पा भर भूमि
किया उसपर कितना अभिमान,
सुयश का, बंदी-चारण दूर,
कराया पाषाणों से गान;

खड़ा चित्तौर क़िले के बीच
कहा करता है कीर्तिस्तंभ,
हुआ है केवल मुझमें मूर्त
मृत्तिका के पुतले का दंभ।

९६

विजय करके सारा संसार
न जिनको हो सकता था सब्र,
न करवट लेने की भी एक
जगह उनको देती है क़ब्र,

वही भुज-दंड सके जो तोड़
गढ़ों की 'गर्वीली दीवाल,
न सकते पतली, छोटी, क्षीण
शिला अपने ऊपर से टाल।

९७

कहाँ है अब नृप औरँगज़ेब,
कहाँ उसकी नंगी तलवार,
कहाँ अब उसका क्रोध कराल,
प्रकंपित जिससे था संसार;

एक मिट्टी पत्थर की क़ब्र
दबाए उसका आज शरीर,
बता करती उसका उपहास—
बंद है इसमें 'आलमगीर'!

९८

समझ, तुमको पाने को जीत
किया था मैंने भी अभिमान,
उठाई थी ऊँची आवाज़,
नहीं, क्या था मेरा मधुगान ?

हुई हो तुम तो सहसा लुप्त,
गई मधु की भी प्याली टूट,
हलाहल का-सा बनकर किंतु
गले में अटका मधु का घूँट।

९९

और तुमको खोकर भी आज
गीत ही लिखता हूँ मैं एक,
और मिटना ही उनको गूँज
जिस तरह मिटते नित्य अनेक,

अमिट करता है लुप्त विभूति
मनुज मिटती चीज़ों के संग,
स्वयं मानव अपना उपहास,
स्वयं मानव है अपना व्यंग।

१००

महल, मंदिर, गुंबद, मीनार,
मक़बरे, गढ़, खंभे, दरबार,
मनुष्यों के सुख, दुख, अभिमान,
भीति, सुधि, श्रद्धा के आगार,

हृदय के जैसे भाव-अभाव
बसा लेते अपने में छंद
किसी युग के विश्वास-विचार
हुए हैं पाषाणों में बंद।

१०१

निगाहों में थे नक़्शे खींच
रहे इन भवनों के जिस काल
महो भोगी भूपति, सम्राट
अगर यह उनको आता ख्याल—

खड़े होंगे सदियों तक मौन
मुँडेरे, मंदिर, महल, मकान,
नहीं उनकी सत्ता का किंतु
बचेगा बाक़ी एक निशान—

१०२

किया था स्वर्गों का निर्माण
जिन्होंने भू पर निःसंकोच,
चले जाएँगे इनको छोड़,
नहीं क्या वे सकते थे सोच।

नहीं संभव है हो अज्ञात
उन्हें इतनी मामूली बात,
नहीं थे वे इतने नादान,
उन्हें था ज्ञात, उन्हें था ज्ञात।

१०३

मनोहर गुड़ियों का घर टूट
गया, माना यह दुख की बात,
मगर मानव पर यह विधि-प्राप्त
नहीं कोई नूतन आघात,

बता दूँ तुझसे एक रहस्य,
घिरौंधे की तूने दीवार
उठाई थी जिस रज के साथ
प्रणय के स्वर्गों की थी क्षार!

१०४

मुझे यदि निश्चय भी हो जाय
घिरौंधा शब्दों का सुकुमार
बनाता जो मैं निशि में बैठ
सुबह को मिटकर होगा क्षार—

और निश्चित भी कुछ यह बात—
आह, निर्मित करने की चाह!
करूँगा उसका ही निर्माण
देखता जो मिटने की राह!

१०५

नहीं उठते थे गृह-प्रासाद
किसी का उठता था व्यक्तित्व,
ढहें, बह जाएँ गृह-प्रासाद
अछूता उसका है अस्तित्व,

हुआ करती जब कविता पूर्ण
हुआ करता कवि का निर्माण,
अमर हो जाता कवि का कंठ
गूँजकर मिट जाता है गान!

१०६

देखकर तुझको रचना-मग्न
निरंतर संहारों के बीच,
करेगा जो तेरा उपहास
सृष्टि के नीचों में वह नीच;

मर्त्य की मिट्टी तू प्रियम
साधना तेरी सब स्वर्गी
दैवतों में तू ईर्ष्या - प
मानवों में तू हो दयनी

१०७

नहीं है यह मानव की हार
कि दुनिया से करता प्रस्थान,
नहीं है दुनिया में वह तत्त्व
कि जिसमें मिल जाए इंसान,

पड़ी इस पृथ्वी पर हर
चिता की भूमल का हर
कड़ी ठोकर का एक निश
लगा जो वह जाता मुँह फे

१०८

हलाहल और अमिय, मद एक,
एक रस के ही तीनों नाम,
कहीं पर लगता है रतनार,
कहीं पर श्वेत, कहीं पर श्याम,

हमारे पीने में कुछ भेद
कि कोई पड़ता झुक-झुक झूम,
किसी का घुटता तन-मन-प्राण
अमर पद लेता कोई चूम।

१०९

सुरा है जीवन का वह स्वप्न
फड़कता देख जिसे संसार,
हलाहल जीवन का कटु सत्य
जिसे छू करता हाहाकार,

अमृत है जीवन का आदर्श
मगर है पाता उसको कौन?
और जो करता भी है प्राप्त
साध वह लेता है व्रत मौन!

११०

बिठाएगी अमरों के साथ
सुरा का दावा था किस काल,
गुणों का करती खुद उद्घोष
हलाहल की उठ उद्धत ज्वाल,

किसी को भाग्य और तप खींच
सुधा के पहुँचा भी दें पास,
मरण का ही देने पर मूल्य
मुक्ति का पाएगा विश्वास!

१११

मुक्ति ही यदि जीवन का ध्येय
मुझे मदिरा में भी थी प्राप्त,
मुक्ति ही यदि जीवन का ध्येय
हलाहल के कण-कण में व्याप्त,

और यदि छेड़ो स्वाद-विवाद
नहीं कम कटु थी मधु की धार,
सुधा की दो बूंदों का वास
हलाहल के सागर के पार!

११२

बड़ी जगती संमोहनशील,
लुभाने को फैलाती जाल,
कल्पना की मदिरा की धार
कल्पना के प्याले में ढाल,

और आजीवन उसके साथ
नशे में रहता है संसार,
मगर कुछ तेय है सौभाग्य
गया हो जल्दी ही उद्धार।

११३

सुरा पी थी मैंने दिन चार
उठा था इतने से ही ऊब,
नहीं रुचि ऐसी मुझको प्राप्त
सकूँ सब दिन मधुता में डूब,

हलाहल से की है पहचान,
लिया उसका आकर्षण मान,
मगर उसका भी करके पान
चाहता हूँ मैं जीवन-दान!

११४

कल्पना कर ली स्वर्गासीन
कहाँ है लेकिन मेरा राग,
नरक के केंद्रस्थल में बैठ
माँगता अपने सुख का भाग,

न सुख की जड़ता पर मैं मुग्ध,
न दुख के शोलों पर मैं शांत,
न सुख-दुख की दुनिया से दूर
मुझे भाता ही है एकांत।

११५

अमर हैं तो है अमरण, हाय,
हमारी दुर्बलता का दाग,
नहीं सह सकता है इंसान
मरे उसके मन का अनुराग,

न मुझको जीवन का ही मोह
न मैं मरने ही को तैयार,
न जीने-मरने का जो अर्थ
जगत में वह मुझको स्वीकार।

११६

न मुझको मधुता ही पर्याप्त,
न मुझको कटुता ही पर्याप्त,
न ऐसे रस से ही अनुराग
न हों दोनों ही जिसमें व्याप्त,

नहीं की अंतरतम की खोज
मगर इतना मुझको मालूम,
मुझे है जिस रस की दरकार
नहीं बाहर के जग में प्राप्त।

११७

*हमारी लघुता का यह ज्ञान,
नहीं लघुतर पर जाता ध्यान,
हमारी प्रभुता का यह गर्व
हमीं में स्थित सब जीव-जहान,

न मुझको लघुता से संतोष,
न मुझको प्रभुता का विश्वास,
न मानव-सत्ता-मापक दंड
मिलेगा इस अग-जग के पास।

११८

सुरा के प्याले में भी डूब
निकल आया ले अपने गान,
हलाहल की लेता है थाह
नहीं हो जाने को लयमान,
सुधा पी भी न मिलेगी शांति
तुझे यदि मिल जाए वह तत्त्व,
तुझे तो है उस रस की खोज
कि जिसपर बलि-बलि हो अमरत्व।

११९

इंद्रधनु को बाँहों में बाँध
किसी ने सतरंगा परिधान
दिया जब उसके तन पर डाल,
किया उसने सुख का अनुमान!
निशा का श्यामल घूँघट खोल
अरुणिमा से धोकर मुख म्लान
लिया जब उसको सहसा चूम,
हुए उसके पुलकाकुल प्राण!

१२०

निशा ने पाया जब वरदान
कि यद्यपि उसका जीवन म्लान,
मिलेगा तम का पर्दा फाड़
उसे फिर-फिर से स्वर्ण विहान,

कभी जाना उसने उपकार!
कभी माना उसने आभार
कि था वह कितना भारी शाप
हुआ जिससे उनका उद्धार?

१२१

मिला जब किरणों को अधिकार,
वहाँ वे धँस जाएँ निःशंक,
जहाँ से, निर्वासित हो तेज,
तिमिर का फैला हो आतंक,

सकीं वे किरणें कब यह जान
कि उनका कितना कार्य महान!
समझ अपना उत्तरदायित्व
सका हो कब उनको अभिमान!

१२२

निशा क्या जाने अपनी मुक्ति,
उषा क्या जाने अपना हास,
किरण क्या अपना नव संदेश,
समीरण अपना स्निग्ध विलास;

विश्व है शिथिल, क्लीव, जड़, कुंद,
एक तुझमें है शांति-अशांति,
भ्रांति भी तेरा ही अधिकार
प्राप्त यदि तुझको केवल भ्रांति।

१२३

दिया जब रवि को सहसा डाल
किसी ने व्योमानल के बीच
कि हो वह जलने का आख्यान,
सका वह ठंडी आहें खींच!

लिया जब सहसा शशि का छीन
किसी ने सारा यौवन-ताप,
किया उसको जड़-शीतल-शांत,
उठा उसके होठों पर शाप!

१२४

समुंदर ने जब पाया शाप
कि उसके जीवन का विस्तार
बने बस आँसू का इतिहास,
किया कब उसने शोकोद्गार ?

मरुस्थल ने जब पाया शाप
कि उसके जीवन का प्रस्तार
न जाने स्नेह सलिल की धार,
किया कब उसने हाहाकार ?

१२५

मिला जब तारों को यह शाप
कि सोएगा जब सब संसार,
निरखना होगा नभ का शून्य
उन्हें अपनी आँखों को फाड़,

उन्होंने ढाले कितने अश्रु ?
उन्होंने उगली कितनी आग ?
उठाए कितने तप्तोच्छ्वास ?
सुनाए कितने दुख के राग ?

१२६

सूर्य क्या जाने अपना ताप,
चाँद क्या जाने अपना शीत,
व्योम क्या जाने अपना शून्य,
भूमि क्या अपना अंध अतीत,

विश्व है एक दलित-नत दास
एक तू ही जाग्रत कण-क्रांति,
भ्रांति भी तेरा ही अधिकार
प्राप्त यदि केवल तुझको भ्रांति।

१२७

हमारे परितापों का ज्ञात
हमें है उत्तरदायी कौन,
नहीं रखता है क्या कुछ अर्थ
किसी का युग-युग व्यापी मौन,

धरा सकुचाई अपने आप,
गगन शरमाया अपने आप,
गगन का खोलूँ क्या अपराध
धरा पर छोड़ूँ क्या अभिशाप!

१२८

देखने को मुट्ठी भर धूलि
जिसे यदि फूँको तो उड़ जाय,
अगर तूफ़ानों में पड़ जाय
अवनि-अंबर के चक्कर खाय,

किंतु दी किसने उसमें डाल
चार साँसों में उसको बाँध,
धरा को ठुकराने की शक्ति,
गगन को दुलराने की साध!

१२९

उपेक्षित हो क्षिति से दिन रात
जिसे इसको करना था प्यार,
कि जिसका होने से मृदु अंश
इसे था उसपर कुछ अधिकार,

अहर्निश मेरा यह आश्चर्य
कहाँ से पाकर बल-विश्वास,
बबूला मिट्टी का लघुकाय
उठाए कंधों पर आकाश!

१३०

आसरा मत ऊपर का देख,
सहारा मत नीचे का माँग,
यही क्या कम तुझको वरदान
कि तेरे अंतस्तल में राग;

राग से बाँधे चल आकाश,
राग से बाँधे चल पाताल,
धँसा चल अंधकार को भेद
राग से साधे अपनी चाल!

१३१

कहीं मैं हो जाऊँ लयमान,
कहाँ लय होगा मेरा राग,
विषम हालाहल का भी पान
बढ़ाएगा ही मेरी आग,

नहीं वह मिटने वाला राग
जिसे लेकर चलती है आग,
नहीं वह बुझने वाली आग
उठाती चलती है जो राग!

१३२

हलाहल तो है ऐसा तत्त्व
कि इससे डरते हैं सुर लोग,
अमरता का जिनको अधिकार
उन्हें मरने के डर का रोग,

अचंभे में हूँ मैं दिन-रात
मिला क्या है, तुझको आधार
कि जो तू हो इतना निर्भीक
हलाहल से करता खिलवार!

१३३

सलिल-मारुत को बाहें ठोक
रहा था तू जिस दिन ललकार,
हुआ था अमरों को संदेह
कि तेरे सिर उन्माद सवार,

महा अचरज से अब नभ मौन
कौन तेरे नीचे चट्टान,
कि तुझसे दबता है सैलाब,
कि तुझसे डरता है तूफ़ान!

१३४

निमंत्रित करता बाड़व ज्वाल
कि खुद जाने तू अपना ताप,
निमंत्रित करता नीलाकाश
कि वह क्या सकता तुझमें व्याप,

निमंत्रित करता तू संहार
प्रलय का करता तू आह्वान,
कि देखे कैसे रचता सृष्टि
पुनः तेरे अंतर का गान !

१३५

और यह मिट्टी है हैरान
देखकर तेरे अमित प्रयोग,
मिटाता तू इसको हर बार,
मिटाने का इसका तो ढोंग,

अभी तो तेरी रुचि के योग्य
नहीं इसका कोई आकार,
अभी तो जाने कितनी बार
मिटेगा बन-बनकर संसार !

१३६

चुनौती झंझा को दे क्रुद्ध
गगन के छू आता सब छोर,
चुनौती सागर को दे लुब्ध
जाँचता भुज-दंडों का ज़ोर,

कहाँ माहुर की आतुर माँग,
कहाँ ध्रुव जीवन की अनुरक्ति,
परखना तुझको विष में डूब
कि तुझमें कितनी जीवन शक्ति!

१३७

पहुँच तेरे अधरों के पास
हलाहल काँप रहा है, देख,
मृत्यु के मुख के ऊपर दौड़
गई है सहसा भय की रेख,

मरण था भय के अंदर व्याप्त,
हुआ निर्भय तो विष निस्तत्त्व,
स्वयं हो जाने को है सिद्ध
हलाहल में तेरा अमरत्व!

१३८

हलाहल पीकर लेगा जान
कि तू है कितना महिमावान,
नहीं है उनमें तेरा स्थान
कि जिनका होता है अवसान,

हुई है फिर-फिर जग की सृष्टि,
हुआ है फिर-फिर जग का नाश,
कि तू दोनों स्थितियों से भिन्न
तुझे हो फिर-फिर यह विश्वास।

१३९

नहीं साहस कर सकता व्योम
कि आकर बैठे तेरे साथ,
नहीं साहस कर सकती आग
कि आकर पकड़े तेरा हाथ,

नहीं साहस कर सकता सिंधु
कि तेरे आँसू से ले होड़,
नहीं हिम्मत है झंझावात
सके साँसों से नाता जोड़।

१४०

और इस मिट्टी के तो साथ
बढ़ाया तूने ऐसा प्यार
कि तुझपर चढ़कर बारंबार
दिखाया करती खेल-दुलार,

कभी होकर सिर पर आसीन
अगर यह करती है अभिमान,
हृदय में भर जाती है मोद,
अधर पर दे जाती मुसकान।

१४१

हलाहल पीकर लेगा जान
स्वयं निज सीमा का विस्तार,
कि तू है संसृति से भयभीत
कि तुझसे भय खाता संसार,

कि इस महती जगती के बीच
पड़ा तू जैसे कोई ग़ैर,
कि तेरे अंतर में जो सिंधु
रहा जग उसमें तृण-सा तैर!

१४२

नहीं सकता है अंबर फैल
जहाँ तक फैला तेरा हाथ,
जगत का सबसे तीव्र समीर
नहीं दे सकता तेरा साथ,

ज्वलित सब से नभ का नक्षत्र
नहीं रखता किरणों में ज़ोर
कि छू भी ले उस तम का छोर
जहाँ तू कर आया है भोर!

१४३

और इस मिट्टी के तो साथ
बढ़ाया तूने इतना प्यार
कि इसका खेल-घिरौंधा देख
निछावर इसपर बारंबार,

बुलाती अटपट बानी बोल—
बनाओ मुझको अपना वास,
हृदय में सुनकर तेरे मोद,
अधर पर सुनकर तेरे हास!

१४४

कहीं यह मिट्टी सकती जान
कि कितने लोकों का कर नाश
भराता है तू उसकी नींव
उठाना जो तुझको आवास !

नहीं, पर, मिट्टी सकती जान
कि रचकर ऐसा भी आगार
नहीं तू होता . क्यों सन्तुष्ट,
किया क्यों करता हाहाकार !

१४५

कहीं यह अंबर सकता जान
कि कितने आकाशों का नाश
हुआ है तब जाकर वह शून्य
बना जो तुझमें करता वास !

नहीं, पर, अंबर सकता जान
कि रचकर ऐसा शून्य महान
सहन क्यों करने में असमर्थ
अभावों का भी तू सुनसान !

१४६

कहीं यह झुका सकती जान
कि कितने तूफ़ानों के प्राण
गए हैं तब जाकर वह साँस
बनी है जो तुझमें गतिमान!

नहीं, पर, झुका सकती जान
कि तेरे वश में जब यह श्वास,
कँपाता जैसे पीपल-पात
तुझे क्यों तेरा ही उच्छ्वास!

१४७

कहीं यह ज्वाला सकती जान
कि नभ के पिंडों में जो आग
धधकती रहती है सब काल
कभी तुझको छूने का दाग!

नहीं, पर, ज्वाला सकती जान
कि हो यह ज्योतिर्पुंज महान
किसी की करता क्यों मनुहार
कि करदे तेरा पुण्य विहान!

१४८

कहीं यह सागर सकता जान
कि कितने जलनिधि सीमाहीन
गए हैं सोखे तब वह बूँद
बनी जिससे तेरे दृग पीन!

नहीं, पर, सागर सकता जान
कि ऐसे आँसू का वरदान
लुटा तू देता • क्यों चुपचाप
किसी के चरणों में अनजान!

समाप्त

हलाहल के पदों की अकारादि क्रम से प्रथम पंक्ति सूची

प्रथम पंक्ति				क्रम संख्या
अ—	अत का इतना था विश्वास	...	...	८०
	अगर जग से मानव घबराय	...	...	५१
	अगर तुमसे लेता मुँह मोड़	...	...	५
	अचल, रे अचल नहीं गिरि-शैल	...	..	६८
	अजानेपन का तो यह हाल	...	...	६६
	अभी तो हो न सकी थी पूर्ण	...	...	२
	अमर है तो है अमरण, हाय,	..	...	११५
	अवनि से जब उठता है ऊब	...	...	५४
आ—	आज दस बरसों से यह पीत	...	...	४६
	आसरा मत ऊपर का देख	...	...	१३०
इ—	इंद्रधनु को बाहों में बाँध	...	...	११६
	इधर है मरुथल शून्य अनादि	...	...	६३
उ—	उठा करता था मन में प्रश्न	...	...	७८
	उठाने में होंगे असमर्थ	...	...	७०
	उड़े दो प्रणय-पखेरू छोड़	...	...	८६
	उपेक्षित हो क्षिति से दिन-रात	...	...	१२६
	उषा की अमर किरण-सी दूर	...	...	१०
ए—	एक दिन काल प्रबल के हाथ	...	...	६१
	एक दिन चिर विनाश की श्वास	...	...	६२

प्रथम पंक्ति		क्रम संख्या
एक दिन दृढ़ चीनी दीवार	... ...	५६
एक दिन बुझ जाएगा सूर्य	... ...	५८
एक दिन हंस-कमल युत दीर्घ	... ...	६०
एक युग तक था जिनका साथ	... ...	२३
औ—और इस मिट्टी के तो साथ	... ...	१४०
और इस मिट्टी के तो साथ	... ...	१४३
और उनका वह 'महल जहाज़'	.. ...	८७
और तुमको खोकर भी आज	... ...	६६
और मानव का धन्य स्वभाव	... ...	५५
और मैं लेकर बैठा आस	... ...	७६
और यह मिट्टी है हैरान	... ...	१३५
क— कल्पना करली स्वर्गासीन	... ...	११४
कहाँ है अकबर का वह स्वप्न	... ...	८२
कहाँ है अब नृप औरँगज़ेब	... ...	६७
कहीं मैं हो जाऊँ लयमान	... ...	१३१
कहीं यह अंबर सकता जान	... ...	१४५
कहीं यह ज्वाला सकती जान	... ...	१४७
कहीं यह झंझा सकती जान	... ...	१४६
कहीं यह मिट्टी सकती जान	... ...	१४४
कहीं यह सागर सकता जान	... ...	१४८
काल-मापक यंत्रों के बीच	... ...	६४
कि जीवन आशा का उल्लास	... ...	४३
किया था स्वर्गों का निर्माण	... ...	१०२

	प्रथम पंक्ति			क्रम संख्या
	किया मैंने विषमय हर 'आज'	...	...	४२
	किसी दिन सिंहासन पर बैठ	...	...	८४
	किसी ने बनवाया भी ताज	...	...	६३
	किसी भावुक क्षण में दो बात	...	...	८१
ख—	खड़े कुछ ऐसे भी प्रासाद	...	...	८८
ग—	गए थे जीवन को जो सींच	...	...	१३
	गगन वातायन पर आसीन	...	...	४४
	गया जब स्नेह-सरोवर सूख	...	...	३४
घ—	घूमती नूरमहल थी एक	...	...	८३
च—	चलाई तुमने पत्थर-ईंट	...	...	१६
	चुनौती झंझा को दे क्रुद्ध	...	...	१३६
ज—	जगत की चहल-पहल से दूर	...	...	८६
	जगत-घट को विष से कर पूर्ण	...	...	१
	जगत-घट तुझको दूँ यदि फोड़	...	...	४
	जगत है चक्की एक विराट	...	...	५०
	ज़रा सी मधु मदिरा में डूब	...	...	१२
	जहाँ तुम करते थे अभिसार	...	...	६०
	जहाँ पर चमकीले, रंगीन	...	...	६१
	जहाँ पर पग-पग सीमित भूमि	...	...	५६
	जहाँ पर रूपमती औ' बाज़बहादुर	...	...	८५
	जिन्होंने मदिरा पी थी साथ	...	...	२२
त—	तुम्हारी करता था जब खोज	...	...	६
	तुम्हारी ताज़ी रक्खूँ याद	...	...	६४

	प्रथम पंक्ति		क्रम संख्या
	तृषातुर अधरों से जिस काल	...	... ३
द—	दिया जब रवि को सहसा डाल	...	... १२३
	देखकर तुझको रचना-मग्न	...	... १०६
	देखने को मुट्ठी भर धूलि	...	.. १२८
न—	न जीवन है रोने का ठौर	...	... ४६
	न झिझका औ' न हुआ भयभीत	...	... ७६
	न थी मधु की मामूली देन	...	... ८
	न पढ़ पाया मैं वेद-पुराण	...	... २१
	न मुझको लघुता ही पर्याप्त	...	... ११६
	न मैंने देखा है किस ओर	...	... २०
	नरक जिसके रहने का स्थान	...	... ७३
	नहीं उठते थे गृह-प्रासाद	..	.. १०५
	नहीं मैं यह कहता हूँ भूल	...	... ३२
	नहीं सकता है अंबर फैल	...	... १४२
	नहीं साहस कर सकता व्योम	...	... १३६
	नहीं है यह मानव की हार	..	... १०७
	निगाहों में थे नक़शे खींच	...	... १०१
	निमंत्रित करता बाड़व ज्वाल	...	... १३८
	निशा क्या जाने अपनी मुक्ति	...	... १२२
	निशा ने पाया जब वरदान	...	... १२०
प—	पकड़ रक्खा मदिरा का पात्र	...	... १५
	परी-सी थी मलका मुमताज़	...	... ६२
	पहुँच तेरे अधरों के पास	...	... १३७

प्रथम पंक्ति		क्रम संख्या
पूर्वजों का था यह सौभाग्य	...	... ५
प्रकृति के आँगन से लूँ सीख	...	... ४
प्रतिक्षण देख हमारा नाश	...	... ६
ब— बड़ा भारी कोई षड्यंत्र	...	... ५
बड़ी जगती संमोहनशील	...	... ११
बताए इसका कौन जवाब	...	... ३
बनाते हम जो जग के बीच	...	... ३
बनाया हमने जिसको साथ	...	... ३
बिठाएगी अमरों के साथ	...	... ११
म— मगर अंतर है केवल एक	...	...
मगर मन की दुर्बलता हाय	...	... १
मधुर कितना मदिरा का नाम	...	... १
मनोहर गुड़ियों का घर टूट	...	... १०
महल, मंदिर, गुंबद, मीनार	...	... १०
मिटा ज्यों ही रजनीपति चंद्र	...	... ७
मिटा सब जिसके मन का मोह	...	... ३
मिला जब किरणों को अधिकार	..	... १२
मिला जब तारों को यह शाप	...	... १२
मुक्ति ही यदि जीवन का ध्येय	...	... ११
मुझे केवल मदिरा का ध्यान	...	... १
मुझे भी ले सकते थे साथ	...	... २
मुझे यदि निश्चय भी हो जाय	...	... १०
य— यहाँ पर देश अनादि-अनंत	...	... ६

प्रथम पंक्ति		क्रम संख्या
यहाँ यदि हम हँसते, नादान,	... ...	४८
यहाँ हम पाते भी यदि स्नेह	... ...	३६
र— रहा जब मधुबाला के साथ	...	१८
रहे गुंजित सब दिन, सब काल	... ...	५७
ल— लगाकर अपनी सारी शक्ति	... ...	४०
लगा होठों को श्रवण समीप	... ...	७२
लौह की ले वज़नी ज़ंजीर	... ...	४१
व— विजय करके सारा संसार	... ...	६६
विजय की बस चप्पा भर भूमि	... ...	६५
विदा ले स्वप्न गए उस देश	... ..	२६
श— शिशिर की श्रीहत आकृति देख	... ...	४७
स— सभी जब हो जाएगा नष्ट	... ...	७५
समझ, तुमको पाने को जीत	... ...	६८
समुंदर ने जब पाया शाप	... ...	१२४
सलिल-मारुत को बाहें ठोंक	... ...	१३३
सिंधु में बहता है तृण सूक्ष्म	... ...	६७
सुरा का आया था जब स्वप्न	... ...	२८
सुरा के प्याले में भी डूब	... ...	११८
सुरा को चख लेने के बाद	... ...	६
सुरा पी थी मैंने दिन चार	... ...	११३
सुरा पीने को थी बाज़ार	... ...	२७
सुरा है जीवन का वह स्वप्न	... ...	१०६
सुरों को, असुरों को भी ज्ञात	... ...	७४

प्रथम पंक्ति		क्रम संख्या
सूर्य क्या जाने अपना ताप	...	.. १२६
हमारी लघुता का यह ज्ञान	...	... ११७
हमारे परितापों का ज्ञात	...	... १२७
हलाहल और अमिय, मद एक	..	... १०८
हलाहल को पाकर अविराम	...	... २६
हलाहल जीवन में क्षय रूप	...	... ३१
हलाहल तो है ऐसा तत्त्व	...	... १३२
हलाहल पीकर लेगा जान	...	... १३८
हलाहल पीकर लेगा जान	...	... १४२
हलाहल पीना है तो देख	...	... १६
हलाहल में न बँटाया भाग	...	... २५
हिचकते औ' होते भयभीत	...	... ३०
हुआ था मुझको जब संदेह	...	... ७७
हुई थी मदिरा मुझको प्राप्त	...	... ३३

बच्चन की

अन्य प्रकाशित रचनाओं का विवरण

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

बंगाल का काल

(कवि का नवीनतम प्रकाशन)

सन् १९४३ का दुर्भिक्ष जिसमें बंगाल के लगभग आधे करोड़ मनुष्य भूख की विकराल ज्वाला में स्वाहा हो गए, शासकों के निर्दय अत्याचार, पूँजीपतियों की निर्मम स्वार्थपरता और देशवासियों की दयनीय नपुंसकता का प्रतीक बनकर आनेवाली न जाने कितनी सदियों के ऊपर अपनी अमंगल छाया डालता रहेगा।

यह रचना इसी भीषण अकाल के प्रति कवि की प्रतिक्रिया है। यह १९४३ में ही लिखी गई थी, परंतु समय की दमन पूर्ण परिस्थिति में इसे प्रकाशित करना असंभव था। तब इसकी केवल सौ पंक्तियाँ श्रीमती महादेवी वर्मा के 'बंग दर्शन' में छापी जा सकी थीं। अब संपूर्ण रचना जिसमें एक हज़ार से अधिक पंक्तियाँ हैं पुस्तक रूप में प्रकाशित हो गई है।

बच्चन की रचनाओं में 'बंगाल का काल' एक नए प्रकार की चीज़ है। इसमें पहली बार आंतरिक अनुभूतियों के कवि ने अपनी आँख बाहर की ओर फेरी है। यहाँ भी उनकी दृष्टि में मौलिकता है। बंग दुर्भिक्ष पर बहुत कुछ लिखा गया है, परंतु प्रस्तुत रचना में उसके प्रति कवि का अपना मनोवेग है, अपना दृष्टिकोण है और अपने विचार हैं। इस दृष्टिकोण की सार्थकता इतने से ही सिद्ध है कि जेलों से निकलकर हमारे बड़े-बड़े नेता भी उन्हीं स्वरों में बोले हैं जिसमें बच्चन की वाणी आज से तीन वर्ष पूर्व मुखरित हो चुकी थी।

इसमें आप बच्चन के कवि और मानव, दोनों का एक नया ही रूप देखेंगे।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

सतरंगिनी

(दूसरा संस्करण)

यह कवि की १९४२-४४ में लिखित सौंदर्य, प्रेम और यौवन के ५० गीतों का संग्रह है। यह सर्व प्रथम अप्रैल, १९४५ में प्रकाशित हुआ था। सौंदर्य, प्रेम और यौवन कवि के लिए नए विषय नहीं हैं। मधुशाला और मधुबाला की पंक्ति-पंक्ति में सौंदर्य की दुर्दम आसक्ति है, प्रेम की अमिट प्यास है और है यौवन का अनियंत्रित उन्माद। पर निशानिमंत्रण के अंधकार और एकांत संगीत के एकाकीपन से निकलकर जब कवि ने पुनः उन विषयों पर लेखनी उठाई है तब उसने केवल एक पिछले अनुभव को नहीं दुहराया। सौंदर्य पर मुग्ध होनेवाली आँखों ने जीवन की बहुत कुछ असुंदरता भी देखी है, प्रेम के प्यासे हृदय ने उपेक्षा और घृणा का भी अनुभव किया है और उषा की मुसकान में नहाती हुई काया कितनी बार तिमिर के सागर में डूब-उतरा चुकी है।

मधुशाला और मधुबाला में जो सौंदर्य, प्रेम और यौवन है उसके आगे प्रश्न वाचक चिह्न लगा हुआ है। सतरंगिनी में उनके प्रति अडिग विश्वास है, वे अब केवल व्यक्ति की प्रेरणा मात्र न होकर विश्व जीवन की वह धुरी हैं जिनपर वह युग-युग से घूमता आया है और घूमता जायगा।

बच्चन ने जीवन की मान्यताओं को सहज में ही कभी स्वीकार नहीं किया। उनका यह परिणाम भी स्वानुभव का मूल्य देकर संचित किया गया है, पुस्तक पढ़कर देखिए।

नया संस्करण छपकर तैयार हो गया है। अपनी प्रति शीघ्र मँगा लीजिए।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

आकुल अंतर

(तीसरा संस्करण)

यह कवि की १९४०-४२ में लिखित ७१ गीतों का संग्रह है। यह सर्व प्रथम जनवरी '४३ में प्रकाशित हुआ था। कवि को अपनी पिछली रचना 'एकांत संगीत' लिखते समय आभास हुआ था कि उसकी कई कविताएँ आंतरिक अशांति को व्यक्त न करके वाह्य विह्वलता को मुखरित करती हैं। इस कारण भविष्य में उन्होंने अपने गीतों को 'आकुल अंतर' और 'विकल विश्व' दो मालाओं में रखकर आंतरिक और वाह्य दोनो प्रकार की विक्षुब्धता को अलग अलग वाणी देने का निश्चय किया था। दोनों मालाओं के गीत इन तीन वर्षों में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। इस पुस्तक में कवि ने 'आकुल अंतर' माला के अंतर्गत लिखित ७१ गीतों को संगृहीत किया है।

'एकांत संगीत' से 'आकुल अंतर' में कितना परिवर्तन आया है, यह केवल इस बात से प्रकट हो जायगा कि 'एकांत संगीत' का अंतिम गीत था 'कितना अकेला आज मैं' और 'आकुल अंतर' का अंतिम गीत है 'तू एकाकी तो गुनहगार'। भावों की किन-किन अवस्थाओं से यह परिवर्तन आया है, इसे देखना हो तो 'आकुल अंतर' पढ़िए। 'निशा निमंत्रण' के अंधकार पूर्ण और 'एकांत संगीत' के विषाद मय वातावरण के साथ संघर्ष करके यहाँ पर कवि आपको जग और जीवन के साथ एक बार फिर से नया संबंध स्थापित करता हुआ दिखाई पड़ेगा।

छंद और तुक के बंधनों से मुक्त केवल लय के आधार पर लिखे गए कुछ गीत हिंदी के लिए सर्वथा नवीन और सफल प्रयोग हैं।

नया संस्करण तैयार है। अपनी प्रति शीघ्र मँगा लें।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

एकांत संगीत

(चौथा संस्करण)

यह कवि की १९३८-३९ में लिखित एक सौ गीतों का संग्रह है। यह सर्व प्रथम नवंबर, १९३९ में प्रकाशित हुआ था। देखने में यह गीत 'निशा निमंत्रण' के गीतों की शैली में प्रतीत होते हैं, परंतु पद, पंक्ति, तुक, मात्रा आदि में अनेक स्थानों पर स्वतंत्रता लेकर कवि ने इनकी एकरूपता में भी विभिन्नता उत्पन्न की है। विचारों की एकता, गठन और अपने आप में पूर्णता जो 'निशा निमंत्रण' के गीतों की विशेषता थी उसकी यहाँ भी पूरी तरह रक्षा की गई है।

कवि ने जिस एकाकीपन का अनुभव 'निशा निमंत्रण' में मुखरित किया था उसकी यहाँ चरम सीमा पहुँच गई है। 'कल्पित साथी' भी साथ में नहीं है। कवि के हृदय में वेदना इतनी घनीभूत हो गई है कि उसे बताने के लिए वातावरण की सहायता की भी आवश्यकता नहीं होती। गीतों का क्रम रचना-क्रम के अनुसार होने से कवि की भावनाओं का जैसा स्वाभाविक चित्र यहाँ आपको मिलेगा वैसा और किसी कृति में नहीं।

कवि ने जीवन के एकांत में क्या देखा, क्या अनुभव किया, क्या सोचा, यदि इसे जानना चाहते हैं तो एकांत संगीत को लेकर एकांत में बैठ जाइए। जीवन में एक स्थान पर प्रत्येक व्यक्ति एकाकी है। इन गीतों को पढ़ते हुए आप यही अनुभव करेंगे कि जैसे आपके ही जीवन के एकाकी क्षणों के चिंतन और मनन को कवि ने वाणी प्रदान कर दी है। बच्चन की यह विशेषता है कि वह व्यक्तिगत अनुभवों को कला के धरातल पर लाकर सार्वजनीन बना देते हैं।

नया संस्करण तैयार है। अपनी प्रति शीघ्र मँगा लें।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

निशा निमंत्रण

(पाँचवाँ संस्करण)

यह कवि की १९३७-३८ में लिखित एक कहानी और एक सौ गीतों का संग्रह है। यह सर्व प्रथम नवंबर, १९३८ में प्रकाशित हुआ था। 'निशा निमंत्रण' के गीतों से बच्चन की कविता का एक नया युग आरंभ होता है। १३-१३ पंक्तियों में लिखे गए ये गीत विचारों की एकता, गठन और अपनी संपूर्णता में अंग्रेज़ी के सॉनेट्स की समता करते हैं। गीतों को लिखने के लिए यह ढाँचा इतना सफल सिद्ध हुआ है कि हिंदी के अनेक कवि आज इसका अनुकरण कर रहे हैं।

'निशा निमंत्रण' के गीत सायंकाल से आरंभ होकर प्रातः-काल समाप्त होते हैं। रात्रि के अंधकारपूर्ण वातावरण से अपनी अनुभूतियों को रंजित कर बच्चन ने गीतों की जो शृंखला तैयार की है वह आधुनिक हिंदी कविता के लिए सर्वथा मौलिक वस्तु है। गीत एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि यह सौ गीतों का संग्रह न होकर सौ गीतों का एक महागीत है, शत दलों का एक शतदल है। प्रत्येक गीत अपने स्थान पर पूर्ण होते हुए रचना के क्रमिक विकास में भी सहायक हैं।

एक ओर तो इनमें प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण है दूसरी ओर हर प्राकृतिक दृश्य के साथ कवि की भावनाओं का ऐसा संबंध दिखाया गया है मानो कवि की भावनाएँ स्वयं उन प्राकृतिक दृश्यों में स्थूल रूप पा गई हैं। सूर्यास्त के साथ कवि की आशाएँ टूट गई हैं। रात के अंधकार में कवि का शोक छा गया है। प्रभात की अरुणिमा में भविष्य का संकेत कर कवि ने विदा ले ली है।

इसका सौंदर्य देखना हो तो शीघ्र ही अपनी प्रति मँगा लीजिए।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

मधुकलश

(पाँचवाँ संस्करण)

यह कवि की १९३५-३६ में लिखित 'मधुकलश', 'कवि की वासना', 'कवि की निराशा', 'कवि का गीत', 'पथभ्रष्ट', 'कवि का उपहास', 'लहरों का निमंत्रण', 'मेघदूत के प्रति' आदि प्रसिद्धि प्राप्त कविताओं का संग्रह है। यह सर्व प्रथम जुलाई, १९३९ में प्रकाशित हुआ था।

आधुनिक समय में समालोचकों द्वारा बच्चन की कविताओं का जितना विरोध हुआ है संभवतः उतना और किसी कवि का नहीं हुआ। उन्होंने अपने विरोधियों की कटु आलोचनाओं का उत्तर कभी नहीं दिया परंतु उससे जो उनकी मानसिक प्रतिक्रिया हुई है उसे अवश्य काव्य में व्यक्त किया है। उत्तर प्रत्युत्तर में जो बात कटु हो जाती वही कविता में किस प्रकार मधुर हो गई है, 'मधुकलश' की अधिकांश कविताएँ इसका प्रमाण हैं। कवि ने चारों ओर के आक्रमण के बीच किन भावनाओं और विचारों से अपनी सत्ता को स्थिर रक्खा है उसे देखना हो तो आप 'मधुकलश' की कविताएँ पढ़िए। इनके अंदर साहित्य के आलोचकों को ही नहीं जीवन के आलोचकों को भी उत्तर है, कवि के लिए ही नहीं मानवता के लिए भी संदेश है। क्योंकि जिस समय यह कविताएँ लिखी गई थीं उस समय साहित्यिक संघर्ष के साथ कवि के जीवन में भी संघर्ष चल रहा था और उन्होंने किसी स्थान पर पराजय स्वीकार न करने का दृढ़ व्रत धारण कर लिया था।

इसी पुस्तक के विषय में विश्वमित्र ने लिखा था, 'बच्चन जी की कविताएँ पढ़ते समय हमें इस बात की प्रसन्नता होती है कि हिंदी का यह कवि मानवता का गीत गाता है।'

नया संस्करण तैयार है। अपनी प्रति शीघ्र मँगा लें।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

मधुबाला

(छठा संस्करण)

यह कवि की १९३४-३५ में लिखित 'मधुबाला' 'मालिक-मधुशाला', 'मधुपायी', 'पथ का गीत', 'सुराही', 'प्याला', 'हाला', 'जीवन तरुवर', 'प्यास', 'बुलबुल'. 'पाटल माल', 'इस पार—उस पार', 'पाँच पुकार', 'पगध्वनि' और 'आत्म परिचय' शीर्षक कविताओं का संग्रह है। यह सर्व प्रथम जनवरी, १९३६ में प्रकाशित हुआ था।

मधुशाला के पश्चात लिखे गए इन नाटकीय गीतों में मधुबाला और मधुपायी ही नहीं प्याला, हाला और सुराही आदि भी सजीव होकर अपना-अपना गीत गाने लगे हैं। कवि को मधुशाला का गुणगान करने की आवश्यकता नहीं रह गई, वह स्वयं मस्त होकर आत्म-गान करने लगी है। जिस समय यह गीत लिखे गये थे उस समय 'हाला', 'प्याला', 'मधुशाला' के रूपक हिंदी में नए ही थे, फिर भी कवि ने उन्हें अपने कितने भावों, विचारों और कल्पनाओं का केंद्र बना दिया है इसे आप गीतों को पढ़कर स्वयं देख लेंगे। इन गीतो में आप पाएँगे विचारों की नवीनता, भावों की तीव्रता, कल्पना की प्रचुरता और सुस्पष्टता, भाषा की स्वाभाविकता, छंदों का स्वछंद संगीतात्मक प्रवाह और इन सब के ऊपर वह सूक्ष्म शक्ति जो प्रत्येक हृदय को स्पर्श किए बिना नहीं रह सकती कवि का व्यक्तित्व। इन्हीं गीतों के लिए प्रेमचंदजी ने लिखा था कि इनमें बच्चन का अपना व्यक्तित्व है, अपनी शैली है, अपने भाव हैं और अपनी फ़िलासफ़ी है।

'मधुशाला' की रुबाइयों के लिए आलोचकों ने प्रायः कहा है कि वह उर्दू साहित्य की परंपरा का अनुकरण है। परंतु 'मधुबाला' में जिस प्रकार के गीत कवि ने लिखे हैं वे सर्वथा मौलिक हैं। फुटकर शेरों और रुबाइयों में विषयों की भरमार होने पर भी उन्होंने उर्दू में कभी ऐसे गीतों का रूप नहीं धारण किया।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

मधुशाला

(सातवाँ संस्करण)

यह कवि की १९३३-३४ में लिखित १३५ रुबाइयों का संग्रह है। यह सर्व प्रथम अप्रैल सन् १९३५ में प्रकाशित हुआ था। हाला, प्याला, मधुबाला और मधुशाला के केवल चार प्रतीकों और इन्हीं से मिलने वाले कुछ गिनती के तुकों को लेकर बच्चन ने अपने कितने भावों और विचारों को इन रुबाइयों में भर दिया है इसे वे ही जानते हैं जिन्होंने कभी मधुशाला उनके मुँह से सुनी या स्वयं पढ़ी है। आधुनिक खड़ी बोली की कोई भी पुस्तक मधुशाला के समान लोकप्रिय नहीं हो सकी इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। अब समालोचकों ने स्वीकार कर लिया है कि मधुशाला में सौंदर्य के माध्यम से क्रांति का ज़ोरदार संदेश भी दिया गया है।

कवि ने इसे 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' का अनुवाद करने के पश्चात् लिखा था इस कारण वे उसके बाहरी रूपक से प्रभावित अवश्य हुए हैं परंतु यह भीतर से सर्वथा स्वानुभूत और मौलिक रचना है जिसकी प्रतिध्वनि प्रत्येक भारतीय युवक के हृदय से होती है।

भाव, भाषा, लय और छंद एक दूसरे के इतने अनुरूप बन पड़े हैं कि हिंदी से अपरिचित व्यक्ति भी इसका वैसा ही आनंद लेते हैं जैसा कि हिंदी से सुपरिचित व्यक्ति। आज ही इसे लेकर बैठ जाइए और इसकी मस्ती से झूम उठिए।

स्वर्गीय प्रेमचंद जी ने पुस्तक की आलोचना करते हुए लिखा था कि "मधुशाला हिंदी में बिलकुल नई चीज़ है; यह श्रेय बच्चन को ही है कि हिंदी साहित्य में उन्होंने मधुशाला भी सजा दी।" इतना हम और कहेंगे, आप चाहे जितनी बार इसको पढ़ें हर बार आप को यह नई ही लगेगी।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

ख़ैयाम की मधुशाला

(तीसरा संस्करण)

यह फिट्ज़जेराल्ड कृत रुबाइयात उमर ख़ैयाम का पद्यात्मक हिंदी रूपांतर है जिसे कवि ने जून् १९३३ में उपस्थित किया था। मूल पुस्तक के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इसकी गणना संसार की सर्वोत्कृष्ट कृतियों में है। अनुवाद में प्रायः मूल का आनंद नहीं आता, परंतु बच्चन के अनुवाद में कहीं आपको यह कमी न दिखाई पड़ेगी। वे एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द रखने के फेर में नहीं पड़े। उन्होंने उमर ख़ैयाम के भावों को ही प्रधानता दी है। इसी कारण उनकी यह कृति मौलिक रचना का आनंद देती है।

स्वर्गीय प्रेमचंद जी ने जनवरी '३६ के 'हंस' में पुस्तक की आलोचना करते हुए लिखा था कि 'बच्चन ने उमर ख़ैयाम की रुबाइयों का अनुवाद नहीं किया ; उसी रंग में डूब गए हैं।' हिंदी में पुस्तक के और अनुवाद भी हैं पर 'लीडर' ने स्पष्टतया लिखा था कि:—

.....Bachchan has a great advantage over many translators in that he himself feels, for all we know, very much like the poet astronomer of Nishapur.

इस संस्करण में पहली बार अनुवाद के साथ-साथ मूल अंग्रेज़ी, और कवि लिखित सार-गर्भित भूमिका और टिप्पणी भी दी गई है। यदि आप अंग्रेज़ी से भिज्ञ हैं तो अनुवाद की सफलता को आप स्वयं देख सकेंगे।

यदि आपने पहले-दूसरे संस्करण देखे भी हैं तो हम आपसे इसे पढ़ने का अनुरोध करेंगे।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रारंभिक रचनाएँ—पहला भाग

(दूसरा संस्करण)

बच्चन की प्रारंभिक रचनाओं का प्रथम संग्रह 'तेरा हार' के नाम से सन् '३२ में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद उनकी दूसरी पुस्तक 'मधुशाला' सन् '३५ में प्रकाशित हुई। इन दोनों पुस्तकों में विचार-धरा तथा कवित्व की दृष्टि से बहुत अंतर था जिससे साधारण पाठक तथा आलोचक दोनों विस्मित थे। इस रहस्य का कारण था कवि की लिखी बीच की कविताओं का प्रकाश में न आना। आज जब उनकी कविताएँ लाखों पाठकों द्वारा पढ़ी जाती हैं और कवि के प्रति उनका सहज प्रेम है तब यह आवश्यक समझा गया कि उनकी बीच की कविताओं का प्रकाशन भी किया जाय। इसी विचार के अनुसार 'तेरा हार' में उसके बाद की २३ और कविताएँ संमिलित कर 'प्रारंभिक रचनाएँ' का पहला भाग प्रकाशित किया गया है। इस पुस्तक का दूसरा भाग भी प्रकाशित हो गया है जिससे कि 'मधुशाला' तक की लिखी सब रचनायें पाठकों के सामने आ गई हैं।

यद्यपि यह बच्चन की प्रारंभिक रचनाएँ हैं, फिर भी सभी पत्र-पत्रिकाओं ने इनकी प्रशंसा की है। बच्चन की कविताओं का क्रम-विकास समझने के लिए इसे देखना बहुत आवश्यक है।

पर इन कविताओं की महत्ता केवल ऐतिहासिक ही नहीं है। भावना की दृष्टि से भी इनके अंदर वह सचाई है जो अपने को प्रकट करने के लिए किसी कला की प्रौढ़ता की प्रतीक्षा नहीं करती।

बच्चन की समस्त रचनाओं में जो उनके व्यक्तित्व की एकता है, इसके कारण आप उनकी नई रचनाओं का आनंद तभी ले सकेंगे जब उनकी प्रारंभिक रचनाओं से भी आप अच्छी तरह भिज्ञ हों।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रारंभिक रचनाएँ—तीसरा भाग

(पहला संस्करण)

इस बात का पता शायद कम ही लोगों को है कि बच्चन ने साहित्य क्षेत्र में पहले-पहल कविताओं के साथ नहीं बल्कि कहानियों के साथ प्रवेश किया था ! 'हरिवंश राय' के नाम से उनकी कई कहानियाँ, 'बच्चन' के नाम से उनकी कविताओं के प्रकाशन से पूर्व हिंदी की प्रसिद्ध मासिक पत्रिकाओं जैसे हंस, सरस्वती, माधुरी आदि में प्रकाशित हो चुकी थीं और काफ़ी पसंद की गई थीं। पर जीवन में कौन ऐसी परिस्थितियाँ आईं जिनसे उनका कवि मुखरित हो उठा और कहानीकार मौन हो गया, इससे संसार अनभिज्ञ है।

बहुत दिनों से बच्चन के ऐसे निकटस्थ परिचितों और मित्रों की, जो उनके कवि में उनके बाल-कहानीकार को न भुला सके थे, यह इच्छा थी कि उनकी कहानियों का एक संग्रह भी प्रकाशित किया जाय। इसी की पूर्ति के लिए सुषमा निकुंज द्वारा 'हृदय की आँखें' नाम से उनकी कहानियों को प्रकाशित करने का विज्ञापन कई वर्ष हुए किया गया था परंतु किसी वजह से पुस्तक छप न सकी।

अब हमने इन्हीं कहानियों को 'प्रारंभिक रचनाएँ' के तीसरे भाग में संगृहीत किया है। कहानियाँ 'प्रारंभिक रचनाएँ' की कविताओं की समकालीन हैं, इस कारण हमें इनका यही नाम देना ठीक जान पड़ा। दोनों को साथ पढ़नेवाले सहज ही इस बात का अनुभव करेंगे कि कैसे लेखक के मस्तिष्क में चार वर्ष तक कवि और कहानीकार दोनों संघर्ष करते रहे हैं और कैसे अंत में कवि विजयी हुआ है। इसका पाठ आपके लिए रोचक और मनोरंजक सिद्ध होगा।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्राराभक रचनाए—दूसरा भाग

(दूसरा संस्करण)

जैसा कि नाम से ही प्रकट है यह प्रारंभिक कविताओं के संग्रह का दूसरा भाग है। प्रारंभिक रचनाएँ, प्रथम भाग की लगभग आधी कविताएँ पहले 'तेरा हार' के नाम से प्रकाशित हो चुकी थीं, परंतु इस भाग की समस्त कविताएँ पहली बार जनता के सामने लाई जा रही हैं, केवल दो कविताएँ, 'कवि के आँसू' विशाल भारत' में, और 'ग्रीष्म बयार' 'सुधा' में प्रकाशित हुई थीं।

इस भाग की कविताएँ प्रायः १९३१-३३ के अंदर लिखी गई हैं। देश के इतिहास से परिचित लोग जानते हैं कि यह समय कितनी आशाओं, आयोजनों और दमनों का था। ऐसे समय में एक नवयुवक कवि की प्रतिक्रियाएँ क्या हुईं, इसे जानने के लिए इस पुस्तक का देखना बहुत ज़रूरी है।

बच्चन का अपनी मधुशाला के साथ प्रवेश करना एक साहित्यिक घटना थी। ये कविताएँ मधुशाला की रचना के ठीक पहले की हैं। इन्हें पढ़ने से आपको पता चल जायगा कि इनमें मधुशाला के गायक की तैयारी हो रही थी। शृंगारिकता और क्रांति का जो मिश्रण मधुशाला में दृष्टिगोचर होता है उसकी पहली झलक आपको इन कविताओं में मिलेगी। प्रारंभिक रचनाओं के दूसरे भाग का अंत ही तीन रुबाइयों के साथ होता है और उसके पश्चात ही कवि ने रुबाइयों की वह धारा प्रवाहित की कि जिसमें समस्त हिंदी समाज शराबोर हो उठा।

आप इस पुस्तक को एक बार अवश्य देखिए।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद